मुक्ति का आनंद

रंगोत्सव १९८१
वी. नि. सं. २५०६

प्रकाशक
राकेश जैन
समन्वय प्रकाशन

मुद्रक
श्री मगनलाल जैन
तथा प्रविणचन्द्र शाह
अजित मुद्रणालय
सोनगढ

मुखपृष्ठ आवरण
रमेशभाई राठोड
भावनगर

प्रोत्साहन पुरस्कार
दस रुपये

अनुक्रमणिका

शीर्षक

पू. गुरुदेव श्री चित्रभानु महाराज

जिनके स्नेह एवं आशीर्वाद का पवित्र स्रोत
प्रवाहित करता रहा।

—शेखर जैन

सेठ श्री नंदकिशोर गणेशीलाल केजरीवाल

"जिनकी विशाल दृष्टिमें धर्म संकीर्ण सम्प्रदायकी संकुचिततासे ऊपर रहा। जिन्होंने लक्ष्मीका सदुपयोग सरस्वती-धर्म एवं समाजके विकासमें सहृदयतासे किया।"

परम धर्म श्रद्धालु, अंबिका देवीके उपासक आस्थावान वैष्णव सेठ श्री नंदकिशोरजी केजरीवालका जन्म हरियाणा प्रदेशके भिवानी जिलेके ढाणा गांवमें हुआ। सेठ साहबने अहमदाबादको अपनी कर्मभूमि बनाया। अपनी निष्ठा, कर्मठता एवं व्यापार कौशलसे अहमदाबादके कपड़ा-बाजारमें मूर्धन्य स्थान बनाया। त्रेसठ वर्षकी उम्रमें भी व्यापारमें अपने पुत्रोंका मार्गदर्शन कर रहे हैं। परिवारमें दो पुत्र एवं तीन पुत्रियाँ हैं।

सेठ श्री के सुपुत्र परम वैष्णव एवं सर्वधर्म समभावी हैं। इस पुस्तक प्रकाशनमें आर्थिक मदद इस भावनाका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सम्पर्क सूत्र—
४०, न्यू क्लोथ मार्केट,
रायपुर दरवाजाके बाहर
अहमदाबाद ३८०००२

मुखपृष्ठ-परिचय

मुखपृष्ठका चित्र प्रतीकात्मक है। संसाररूपी मकड़ीके जालेमें फँसा हुआ मनुष्य साँप और बिच्छु जैसे कषायों द्वारा डँसा जा रहा है। और तृषणाओंमें फँसा हुआ है। धन और संपत्तिका मोह उसे निरन्तर परिग्रहमें जकड़े हुए है। काम-वासनाओंकी भ्रमरवृत्ति उसे निरन्तर पतनकी ओर ले जाती है। परन्तु, यही मनुष्य जब भेदविज्ञानकी दृष्टि प्राप्त करता है तो वह ध्यान-योगमें प्रस्थापित होने लगता है। और जब वह अन्तर-जगतमें प्रवेश करता है तभी उसकी ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित होती है। उसका कार्योत्सर्गी तपस्वीस्वरूप निखरने लगता है। फिर मनुष्य इस देहसे ऊपर उठकर आत्मलीन बनता है। ततपश्चात ॐ तक पहुँचकर अंतिम अवस्था सिद्धत्वको प्राप्त कर, सिद्धशिला पर स्थापित होकर संसारसे मुक्त हो जाता है। ऐसा आत्मज्ञानी और आत्मलीन ही मुक्तिका सच्चा आनन्द प्राप्त करता है।

प्रस्तुत चित्र निरन्तर ऊर्ध्वगति और साधनावस्थाका प्रतीक है। मुक्तिका आनन्द स्वयं अनुभव करनेका आनन्द है।

मुखपृष्ठ–परिचय

मुखपृष्ठका चित्र प्रतीकात्मक है। संसाररूपी मकड़ीके जालेमें फँसा हुआ मनुष्य साँप और बिच्छु जैसे कषायों द्वारा डँसा जा रहा है। और एषणाओंमें फँसा हुआ है। धन और संपत्तिका मोह उसे निरन्तर परिग्रहमें जकड़े हुए है। काम-वासनाओंकी भ्रमरवृत्ति उसे निरन्तर पतनकी ओर ले जाती है। परन्तु, यही मनुष्य जब भेदविज्ञानकी दृष्टि प्राप्त करता है तो वह ध्यान–योगमें प्रस्थापित होने लगता है। और जब वह अन्तर-जगतमें प्रवेश करता है तभी उसकी ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित होती है। उसका कार्योत्सर्गी तपस्वीस्वरूप निखरने लगता है। फिर मनुष्य इस देहसे ऊपर उठकर आत्मलीन बनता है। तत्पश्चात ॐ तक पहुँचकर अंतिम अवस्था सिद्धत्वको प्राप्त कर, सिद्धशिला पर स्थापित होकर संसारसे मुक्त हो जाता है। ऐसा आत्मज्ञानी और आत्मलीन ही मुक्तिका सच्चा आनन्द प्राप्त करता है।

प्रस्तुत चित्र निरन्तर ऊर्ध्वगति और साधनावस्थाका प्रतीक है। मुक्तिका आनन्द स्वयं अनुभव करनेका आनन्द है।

कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि आचार्योंके ग्रन्थरत्न
नदर्शन तथा धर्मके अजस्रस्रोत रहे हैं इसलिए उन पर अनेक भीष्म एवं
काओंके साथ साथ उनके प्रतिपाद्य विषयोंके आधारको लेकर स्वतंत्र
नाएँ की गयी हैं। डॉ. शेखरचंन्द जैनने भी उक्त ग्रन्थराजोंका
श्रय लेकर ही इस संक्षिप्त कृतिको प्रस्तुत किया है, जो भावों सिद्धान्तों
ं भाषाकी दृष्टि से सार्वजनीन सार्वोपयोगी सिद्ध होगी।

आत्मतत्त्वको विश्लेषण करनेकी अनेक दृष्टियाँ सम्प्रति विश्वमें
लित हैं किन्तु जिस सूक्ष्मदृष्टिसे आत्मतत्त्वको जैन मनीषियोंने प्रस्तुत
या है वह अलौकिक है वस्तुतः यथार्थका बोध करानेवाली है। इन्हीं
नाचार्यों और जैनमनीषियोंकी दृष्टिका आश्रय लेकर डॉ. शेखरचन्द
नने भी आत्मस्वरूप चैतन्यके ज्ञान दर्शन गुण, उसके आकार और गतिका
ड़ा ही सूक्ष्म और गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है। जो जैन तत्त्वमीमांसा
परमोत्कर्षका परिचायक है। निश्चयनयकी दृष्टिसे जीवके शुद्ध बुद्ध ज्ञायक
भावरूप चैतन्यपिंडको ही आराध्य स्वीकृत किया है और व्यवहारकी
ष्टिसे शरीरस्थ आत्मतत्त्वको ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप प्रकट किया है।
द्धात्माके ऊर्ध्वगमनस्वभावको बड़ी गम्भीरता और सूक्ष्मतासे प्रस्तुत किया
ा है, जो जैनदर्शनकी विशिष्टताके साथ स्वयं लेखककी बोधक्षमताका
द्योतक है।

स्याद्वाद सिद्धान्तका परिचय देते हुए डॉ. बलदेव उपाध्याय आदि
द्वारा इसे संशयवादकी सीमाके अन्तर्गत ले जाते हैं उन्हींके प्रतिवाद
डॉ. शेखरने अपनी प्रमुख रचना 'मुक्तिका आनन्द' में स्याद्वाद
यवाद नहीं अपितु निश्चयका प्रतीक शीर्षकके माध्यमसे यह बतलाया
क सत्यका अन्वेषण स्याद्वादके आश्रयसे ही किया जा सकता है।
वाद अस्ति-नास्तिके आधार पर टिका होनेके कारण वस्तुके निश्चय
स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिए परम सहायक होता है। स्याद्वाद समन्वयका
है, जिससे एकान्त मिथ्या और अनेकान्त सत्य सिद्ध होता है।

सभी भारतीय और पाश्चात्य दर्शनोंकी मान्यताओंका यदि एकरूप देखना चाहते हो तो स्याद्वादको समझो और चिन्तन करो तभी यथार्थताका बोध होगा। स्याद्वादरूपी विशाल हृदय श्रुत सभी दर्शनोंको स्वयंमें आत्मसात कर लेता है। समस्त दर्शनोंके प्रतिपाद्य विषय सत्य हैं किन्तु वे एकान्तका आश्रय लिए होनेके कारण सत्यताकी पूर्णता प्राप्त करनेमें असमर्थ रहते हैं। स्याद्वादरूपी श्रुतके विचार बड़े उदार हैं इसलिए उसकी दृष्टिमें वे समस्त सिद्धान्त जो एक एक दृष्टिकोणको प्रस्तुत करते हैं अपेक्षासे सत्यकी सीमामें ही आते हैं। स्याद्वादका मुख्य रूप सापेक्ष है न कि संशय। इसीलिए सापेक्षताकी दृष्टिसे निश्चय पर पहुँचना सरल है और उस सरलतम मार्गका यथार्थरूप स्याद्वाद है जो निश्चयका प्रतीक माना जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्य शीर्षक भगवान महावीर वर्तमान सन्दर्भमें, भक्तामर स्तोत्रकी ललित योजना और स्वाध्याय आदि समस्त विषय जैनधर्मकी उत्कृष्टता और उपयोगिताके पोषक हैं। सम्प्रति सामाजिक गतिविधियोंमें यदि उत्कर्ष दिखाना है तो उक्त शीर्षकोंमें प्रतिपाद्य विषयोंका अवश्यमेव आश्रय अवलंबनीय है, क्योंकि भगवान महावीरके द्वारा उद्घोषित अहिंसावाद, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सिद्धान्तोंके मर्मको दृष्टिमें रखकर यदि व्यक्ति चलता है तो अवश्य ही अपना उत्कर्ष कर सकता है। राष्ट्रका उत्थान भी उक्त सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर और उस पर आचरण करने पर ही संभव है, क्योंकि वे समस्तके समस्त सिद्धान्त एक आदर्श समाजकी संरचना करने हेतु महान मानव भगवान महावीर स्वामीने निर्मित किये थे जो जनजनका कल्याण कर सकते हैं सच्ची समाजवाद ला सकते हैं साथ में स्व और पर का उत्थान कर सकते हैं जीवमात्रके प्रति दयाकी भावना रखनेमें सहायक होते हुए मनुष्यतः का बोध करा सकते हैं।

प्रत्येक प्राणीको आत्मस्थ बनानेका एकमात्र मार्ग है। स्वाध्यायमें नियमसे व्यक्ति स्वयं तक पहुँचता है और अपने तक पहुँचकर स्वयंबोधको प्राप्त होता है जिससे बाह्य आकर्षण उसे संसारकी इस कृत्रिमताकी ओर ले जानेमें असमर्थ रहता है, इसीलिए स्वाध्याय प्रति प्राणीको करना आवश्यक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ उपर्युक्त विशिष्टताओंका विस्तृतरूप है। इस ग्रन्थमें उपनिबद्ध विषयसे जनसामान्यको जैन सिद्धांतोंकी पूर्वपीठिकाके साथ साथ उसके रहस्योंका भी बोध होगा, जिससे वे जैन सिद्धांतोंकी उपयोगिताको समझेंगे। यह कृति जीवनके हरमोड़ पर एक दृष्टि लिए हुए साथमें रहेगी, यदि कहीं फिसलन आयी तो यह वहां सतर्क करनेमें परम सहायक रहेगी। साथमें स्वसंबोध कराकर आत्मोत्थानमें सहायक सिद्ध होगी ऐसी मुझे आशा है। अतएव इसका अध्ययन प्रत्येक बुद्धिजीवी प्राणीको करना कर्तव्य जिससे वह स्व और परके उत्थानमें सहायक हो सके।

बाबूलाल जैन जमादार
मन्त्री—अखिल भा. दि. जैन शास्त्रीपरिषद्
बड़ौत (मेरठ)
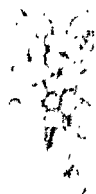
मेरा आनंद

आध्यात्म सम्बन्धी अपने विचारोंको 'मुक्तिका आनंद' कृतिमें आप सबके समक्ष प्रस्तुत करते हुए आनंद और संकोचकी भावनाका अनुभव करता हूँ। आनंद इसलिए कि इस प्रकारके विचारों और चिंतनका यह मेरा प्रथम पुष्प है। और प्रथम अनुभूतिको अभिव्यक्त करनेका आनंद-लेखकको सहज आनंदसे अधिक ही होता है। संकोच इसलिए भी है कि आप जैसे चिंतक अध्येयता विद्वानोंके सामने आध्यात्मिक चिंतनकी बात प्रस्तुत करना सूर्यके समक्ष दीपक जलाने जैसा प्रयास ही है। परन्तु 'भक्तामर स्तोत्र' में कहा है—जिस प्रकार भगवानकी भक्ति भक्तको वाचाल बनाती है और अल्प शक्ति होनेके उपरांत भी भक्त भगवानके गुणगान गानेके लिए समुद्यत होता है—उसी प्रकार मैं अपने अन्तरकी भावनाओंको आप सबके समक्ष कुछ सीखनेकी और अपनी क्षतिओंको जाननेकी भावनासे अपने विचारोंको प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रस्तुत पुस्तकमें बम्बई जैन युवकसंघ एवं अन्य संस्थाओं द्वारा आयोजित पर्यूषण, व्याख्यानमालामें तथा दिल्ली, सूरत आदि स्थानों पर दिये गये प्रवचनोंका संकलन है। बम्बई पर्यूषण व्याख्यानमालामें प्रवचनका अवसर देकर व्याख्यानमालाके अध्यक्ष और बम्बई युनिवर्सिटीके गुजराती विभागके अध्यक्ष डॉ. रमणलाल शाह आनंद स्रोत बने हैं।

इस कृतिका गुजरातीमें प्रा-रवीन्द्र अंधारिया और प्रा-शिल्पिन थानकीने सुन्दर अनुवाद करके मेरे प्रति सद्भावनाके कारण जो श्रम उठाया है, उसके लिए उनका आभारी हूँ। गुजरातीमें पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

भारत और विदेशोंमें विशेषकर अमरीकामें जिन्होंने जैन-धर्म-ध्वजको फहराया है, ऐसे गुरुदेव श्री चित्रभानुजी महाराजका आशीर्वाद और प्रेरणा मुझे मिलती रही। गुजराती प्रकाशनमें जिनका मातृवत स्नेह प्राप्त

हुआ है और जिन्होंने आर्थिक मदद दी है उन स्वर्गीय जयाबेन म. शाह तथा श्रीमती सावित्रीबेन र. महेताका आभारी हूँ।

परम तपस्वी जैन आगमके ज्ञाता, प्रखर वक्ता प. पू. आचार्य विजयमेरुप्रभसूरीजीने आशीर्वचन देकर लेखन और संशोधन कार्यमें मेरा उत्साह बढ़ाया है।

इस हिन्दी संस्करणकी भूमिका प्रवचन केसरी और जैनधर्मके कर्मठ कार्यकर्ता विद्वान पं. बाबूलालजी जमादारने भूमिका लिखकर मुझे आशीर्वाद तो दिया ही है, उत्साहित भी किया है।

हिन्दी संस्करणके प्रकाशनार्थ मैं आभारी हूँ श्री प्रकाशचंदजी केजरीवाल (कपड़ेके व्यापारी)का जिन्होंने आध्यात्म और धर्मको संप्रदायसे ऊँचा मानकर वैष्णव होते हुए भी मुझे आर्थिक मदद देकर प्रोत्साहित किया।

हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओंमें प्रकाशित इस पुस्तक प्रकाशन में श्री कांतिलाल डी. कोरा, श्री वाडीलाल वी. शाह, श्री मनमोहन भाई तंबोली, डॉ. पंकजभाई महेता—आदिकी शुभ कामनाएँ सहभागी रही हैं।

शीर्षकके अनुकूल सुन्दर और कलात्मक आवरण–चित्र मित्रभावसे श्री रमेशभाई राठोडने तैयार करके जो सहयोग दिया है उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

[illegible] एवं आत्मीयभावसे सुन्दर मुद्रणकार्यके लिए अपने [illegible] श्री [illegible] जैनका मैं ऋणी हूँ साथ ही श्री मनोप [illegible] भी आभारी हूँ, जिनका परिश्रम इस प्रकाशनमें रहा है।

पुस्तकमें जो कुछ उत्तम है वह आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथोंके वांचन का [illegible] है, और इसमें जो क्षतियां हैं वे नितान्त मेरी, अपनी हैं।

[illegible] चंद जैन

श्री महावीर जैन विद्यालय

[illegible]

मुक्तिका आनंद

ज्ञानपिपासु धर्मप्रेमी सज्जनो! अपने आजके विषय 'मुक्तिका आनंद'की चर्चा में कुछ प्रश्नोंके उत्तर खोजनेके प्रयाससे करूँगा। मेरे मनमें उद्भूत प्रश्नोंका समाधान करनेका प्रयास ही मेरे विषयका प्रतिपादन होगा।

जबसे इस विषय पर मैंने सोचना प्रारंभ किया, तभीसे ये प्रश्न मेरे मनमें घुमड़ने लगे—मुक्ति किसकी? मुक्ति किससे? और क्यों? आनंद क्या है? आदि।

भारतीय मनीषामें, प्रायः सभी धर्मोंने मुक्तिका उपदेश दिया है और इसीको तपस्याकी चरम परिणति माना है। सामान्य रूपसे हम मान लेते हैं कि किसी वस्तुको छोड़ देना अर्थात् मुक्त होना—या फिर किसी वस्तुसे छूट जाना मुक्ति है। चूँकि प्रथममें हमारी स्वयंकी प्रधानता है और दूसरेमें हम हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते।

संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं। इसी सुखकी खोजमें सभी प्रयत्नशील हैं। पर लगता है वे सुखके आभासको सुख मान बैठे हैं और परिणाम स्वरूप उन्हें सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो पाता। और आश्चर्य तो तब होता है जब सुखान्वेषी साधु भी इस मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता है, भटकता है और अतृप्त ही रह जाता है। तब लगता है कि या तो इन लोगोंका प्रयास गलत है या फिर इन्होंने सुखको समझनेमें गल्ती की है। और खोजने पर मिला कि इनके मूलमें ही भूल थी।

अरे! सुखके इन अन्वेषियोंने मात्र बाह्य सुखोंके त्यागको मुक्तिका निमित्त मान लिया, मात्र बाहरी उपकरण, ठाट-बाट या भोगके साधनोंको त्याग देनेको ही सर्वस्व मान लिया। इससे तो बड़ा अकल्याण हो

गया। यदि त्यागे हुए पदार्थमें किंचित् भी आसक्ति रह गई तो उसकी तृष्णा बड़े भयंकर रूपसे आक्रमण करती है और स्थिति है न घरकी न घाटकी। और यदि मैंने यह त्याग दिया–वह त्याग दियाका अभिमान ऊपर उठा तो फिर इतने गहरेमें डूबना पड़ता है जहां सिर्फ अंधकार या कीचड़के सिवाय और कुछ भी नहीं।

तो यह स्पष्ट होता है कि जहां त्यागनेके साथ संतोषका भाव हो या यों कहें जिस वस्तुको त्याग रहे हो उसके प्रति ममत्वबोध हट जाये वहींसे त्यागका प्रारंभ होता है। इस संक्षिप्त चर्चासे इतनी स्पष्टता हुई कि सुखका प्रथम चरण त्याग है और त्यागकी मूल भावनामें ममत्वका हटना है। इस बातको मैं यों रखना चाहूँगा कि ममत्वका त्याग ही मुक्तिकी ओर उन्मुख होनेका प्रथम अभियान है।

करें—तो दुःखी हुए। इसलिए प्रत्येक धर्मने इन भोग-विलासके बाह्य साधनोंको त्यागनेका सर्वप्रथम उपदेश दिया। यह सच है कि मात्र बाह्य वस्तुओंका त्याग न तो पूर्ण त्याग है और न उससे मुक्त होने पर सुख मिल सकता है। तब बात प्रारंभ होती है अंतरके त्यागकी।

मैं अज्ञानावस्थाके कारण शरीर और आत्माको एक मानता रहा, फलतः शरीरके दुःखोंको आत्माके दुःख मानता रहा। इसीके परिणाम स्वरूप मैं स्व और परके भेदाभेदको नहीं समझ पाया। और यही कारण है कि इस आत्माको प्रसन्न नहीं कर सका। वास्तवमें यह शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं। सुख-दुःखकी अनुभूति शरीरकी अनुभूति है। मैं इस ज्ञानसे भिज्ञ हो गया कि शरीर और आत्मा भिन्न हैं—पर फिर भी मुझे आनंद नहीं मिला या यों कहूं कि मुझे पराधीनताका बोध ही सताता रहा। मेरी स्थिति तो उस गंदगीके कीड़े-सी रही जिसे सुगंधित पुष्पोंकी गंध भी नहीं मिली, क्योंकि दाढ़में तो गंदगी चिपकी थी। वासनाओंकी गंदगीने कभी त्यागका आनंद लेने ही न दिया। तब विचार किया तो समझमें आया कि इस आत्मदीपकी चारों दिशाओंमें चार कषायोंकी काली पर्तें खड़ी हैं—जिन्होंने प्रकाशको आच्छादित कर लिया है। वासनाकी एषणाकी छतके नीचे दीप कैद हो गया है। बस इस ज्ञानके प्रादुर्भावसे एक क्रांति हो गई। दीपकी छोटीसी ज्योति संघर्ष करने लगी। एक दिन इन पर्तोंको जलाकर उसने सर्वत्र एक आलोकका मंडल सर्जित किया। तात्पर्य कि भिन्नत्व ज्ञान होने पर भी यदि इन कषायोंकी पर्तोंको आत्मासे पृथक् करनेका प्रयास न किया गया तो विश्वास रखिये न तो सच्चा आनंद मिलेगा और न ही मुक्तिकी ओर शाश्वत आनंदकी ओर प्रयाण हो सकेगा। बाह्य त्याग मात्र छलना होगी, ढोंग होगा दूसरोंको कम, स्वयंको अधिक ठगना होगा।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि लोग देखादेखी त्यागको समझे विना मुक्तिको सस्ता समझकर उस ओर बढ़नेका उपक्रम करते हैं पर

अवस्थाका चिंतन किया, एकाएक एक बिजली कौंधी उसमें, उसे लगा कि एक लंगोटीकी चिंता इतनी बाधक ! तुरंत उसने लंगोटी फेंक दी, जैसे सारी चिंता, चाह, विचार फेंक दिये। और लग गया वह पुनः अपने सच्चे पथ पर। आप संसारमें किसी भी व्यक्तिको देखिये, उनसे मिलिये। पूछिये किसी अमीरसे, क्या पैसेने उसे सुख दिया ? मैं समझता हूं, पैसेने उसकी धनकी प्यास और भी बढ़ा दी, वह और भी काले कारनामोंमें उलझ गया। किसी बड़े परिवार वाले से पूछिये तो वहां भी पारिवारिक संघर्षका दुःख झांकता नजर आयेगा। पैसोंसे गरीबकी बात ही क्या ? अरे ! चोर, डाकू, जुआरी-शराबी किसी भी व्यसनीसे पूछो, क्या वह सुखी है ? क्या अपनी संतानोंको भी वैसा ही बनाना चाहता है ? उसका उत्तर हमेशा यही रहेगा कि इन कामोंकी छाया भी वह अपनी संतान पर नहीं पड़ने देना चाहता। इसका मतलब हुआ कि उसे इन कामोंमें सुख नहीं पर आज उसकी मजबूरी ही उससे यह सब [illegible] रही है।

" मैं चढ़ गया हिमालय
गिर-गिर फिसल-फिसल कर । "

दोस्तो ! इस साधनाके हिमालय पर चढ़ना है। बस उसीके पास वह मुक्तिका द्वार है जिसमें प्रवेश पाकर मुझे आनंदानुभूति प्राप्त करनी है।

कबीरकी भाषामें 'घूंघटके पट खोल' कर अर्थात् अंतरमें व्याप्त अंधकारके पट खोलकर पियाको ढूंढ़ना है। बुझे हुए ज्ञानके दीपकको पुनः शून्यमहलमें जलाना है। जिस दिन यह दीपक प्रज्वलित होगा, आनंदका प्रकाश-प्रवाह प्रवाहित होने लगेगा। कल्मषता दूर हो जाएगी। और जिस दिन इस चेतनायुक्त आत्माको परख लेंगे उसी दिन आनंदकी प्राप्ति होगी जो सच्ची शांति होगी।

जैनधर्ममें विशेषरूपेण द्वेषके साथ रागकी मुक्तिको भी आवश्यक माना है। द्वेषकी भांति राग भी पर पदार्थ है। पुण्यका बंध भी अंततोगत्या बंध ही है। और बंध कभी मोक्ष नहीं होने देता। क्योंकि मुक्त आत्मा द्वेष और राग दोनोंसे मुक्ति चाहता है—मुक्त रहता है।

बंधुओ ! तपस्या वह है जहां स्वयंको मिटानेका प्रयास हो। जहां मैं तूमें बदल जाये। बीजका अस्तित्व मिटा देना ही वृक्षकी शुरुआत है। अहम्का तिरोहण ही तो सुखका अंकुरण होना है। मुझे देना होगा, त्यागना होगा अहम् और ग्रहण करना होगा संयमका व्रत।

'तपस्या' शब्दमें 'तप' कभी कभी तीव्रता या उग्रताका बोध कराने वाला शब्द लगता है। 'तप' में ताप है। आंच है, तपन है। परंतु हम सभी जानते हैं कि सोनेको भी शुद्ध होनेके लिए, कुंदन बननेके लिए तपनमेंसे ही गुजरना पड़ता है। इसी तपस्याकी पवित्र अग्निमें तप कर ही हम विकारोंका कीट भस्म कर सकते हैं और पुनः इस आत्माकी चमकको कुन्दन बना सकते हैं। तपस्याकी तपनमें जिस दिन ज्वालाकी

लगेगा उसी क्षणसे मुक्तिलोककी यात्राका आनन्द आने लगेगा। यह हो सकता है कि शरीर क्षीण हो जाये, पर आत्मा मजबूत बनती है। और एक दिन भगवानकी भाषामें 'केवलज्ञान' का प्रकाश जगमगाने लगता है। फिर जो दृष्टि प्राप्त होती है वह सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है। उस दृष्टिमें धर्म, भाषा, प्रदेश, देश, जाति यहां तक कि मनुष्य या पशु-पक्षीके भेद ही नहीं रह जाते। चराचरके प्रति समभाव पनपता है। हमारी आनन्द यात्राके सभी साथियोंको आनन्द प्रदान करनेका उत्साह उमड़ने लगता है। दूसरोंको कुछ देनेमें आनन्द आने लगता है। इस साधना पथमें मुख्य चारित्र-धारण नितांत आवश्यक है। मैं ज्ञानकी बात करने लगा, पर बिना चारित्र्य धारण किए अर्थात् बिना साधनामें जुटे मुझे मुक्तिका आनन्द मिल ही नहीं सकता। ऐसा करने वाला तो तीर पर खड़ा तमाशा ही देखता है, उसे मोती कैसे मिलेंगे!

तो यह तय हो गया कि आत्माकी सर्व प्रथम साधना द्वारा बाह्य एवं आंतरिक विकारोंसे मुक्ति दिलानी होगी और तभी आनन्द प्राप्त होगा।

यहां थोड़ी-सी और स्पष्टता करना चाहूंगा आनन्दके विषयमें- आनन्दका साधारण अर्थ संतोष या परितोषके या तृप्तिके पश्चात् उद्भूत प्रसन्नताको कहा गया है। मनुष्य जब इच्छित वस्तुको प्राप्त कर लेता है उस समय उसमें आह्लाददायक भाव जागृत होते हैं। और वह बोल उठता है, आनन्द आ गया। किसी स्वजनसे मिलन होने पर, [illegible] मिलन पर हृदयमें जो गुदगुदाहट होती है उसमें [illegible] आनन्द है। कोई सहृदय जब किसी प्रकृतिके सौन्दर्यको देखता है तो उसका मनमयूर नाच उठता है। अरे! प्यासी धरती जब [illegible] होती है तब अंकुरित होकर अपना आनन्द [illegible] है। पशु-पक्षी अपने शिशुओंका लालन करते हैं। [illegible] है। अरे! भक्त जब भगवानके द्वार मंदिरमें

पहुंचता है तब चैतन्यकी भावभूमिमें पहुंचकर आनन्दसे नाच उठता है। संक्षिप्तमें यों कहा जा सकता है कि जहां हमें अनुकूल वातावरण, वस्तु या उपलब्धि होती है वहां मनमें जो सुखद अनुभूति होती है उसी अनुभूतिकी अभिव्यक्ति जब वाणी या व्यवहारसे प्रगट होने लगती है उसीको हमने आनन्दकी संज्ञा प्रदान की। जहां आनन्द होगा वहां दुःख कैसा? भले ही ये सारे आनन्द भौतिक वस्तुओंके कारण हैं—क्षणिक हैं, पर जितने क्षण हैं वे ही सच्चे, निरापद, दुखहीन क्षण हैं। मुझे लगता है कि जिंदगीकी अवस्थाका लेखा-जोखा वर्षोंका नहीं, इन्हीं क्षणोंका लेखा-जोखा है।

भाई! जब इस प्रकारका आनन्द आह्लादित बना देता है तब उस आनन्दकी कल्पना मात्र आनन्दित बनाती है जिसमें आत्माके आनन्दकी बात है। जहां उस आनन्दकी भावना है जिसमें सच्चे स्वरूपको पा लेनेका कारण निहित है। स्वतन्त्रतामें सबसे अधिक सुख या आनन्द है और जब इस आत्माको अपना स्वतन्त्र स्वरूप मिल गया उसके ऊपरकी काई छंट गई—उसे खोया रतन मिल गया। फिर आनन्दका क्या कहना? कितना हल्कापन आ गया? कितनी निश्चिंतता आ गई? मेरे-तेरेसे ऊपर उठ कर उस लोकमें प्रतिष्ठित हो गया जहां शोणितका ताप नहीं, कर्कशता और कठोरता नहीं। जहां विद्वेष गल जाते हैं। मुक्ति ही से शाश्वत आनन्द मिल सकता है। अर्थात् मोक्षकी साधना ही आनन्दकी साधना है। जहांसे आवागमनका चक्कर पूरा हो जाता है। मैं आत्मद्रष्टा बन जाता हूं। आकुलता नष्ट हो जाती है। इसी आनन्दको जब मैं सहज आनन्द मानने लगता हूँ तभी मेरी आत्माका सहजानन्दी स्वरूप दमकने लगता है।

साथियो! मुक्तिके आनन्दमें निहित है दूसरोंको देकर प्रसन्नताका अनुभव करना। अंतरके आलोकमें आत्माको परखनेका उपक्रम करना।

मुक्तिका आनन्द है परसे स्वको परखना और निखारना। मैं सबका हो जाऊँ पर सबमें लिप्त न होऊँ। यही तो उस आनन्दकी चरम परिणति है। साधकके रोम-रोममें जब ईश्वर प्राप्ति की पुलककी सिहरन दौड़ने लगे तभी तो मिलता है वह आनन्द। इस आनन्दका उद्गम भी तो अंदर ही है। बाहर मत ढूंढ़। ब्रह्म पर पड़ा हुआ मायाका परदा हटा, आनन्दका सागर लहरा उठेगा। तेरी कस्तूरी तो तुझमें ही है।

मित्रो! आनन्द स्वयं अनुभवकी चीज है। उसे न तो उधार लेकर भोगा जा सकता है और न वह उधारीमें पैदा ही होता है। वह तो वह चमक है जो खुद ही चमकानी होती है। किसीका दिया आनन्द तो भीख है, और भीख क्या आनन्द दे सकती है?

लो आओ, हम सब उस आनन्दके लिए बाह्य जगतसे अंतर्जगतकी ओर मुडें। इस साधनाके पथ पर चलनेका संकल्प करें। इन्द्रियोंकी स्वच्छंदताको संयमसे साधनेका निश्चय करें। मात्र ज्ञान नहीं, चारित्रको धारण करें, तभी इस आत्माको मुक्ति मिलेगी वासनाओंसे और तभी इस मुक्तिका आनन्द हमें ही नहीं, चराचरको आनन्दित बनायेगा। हम व्यष्टिसे ले समष्टि तककी विशाल दृष्टि पैदा करें।
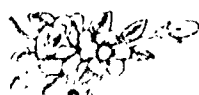
कामसे मोक्ष

भारतमें प्रचलित प्रायः सभी धर्मों और सम्प्रदायोंने जीवनको धर्म और मोक्षके बीच आबद्ध किया है। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष ये चार तत्त्व जीवनके अथसे इति तककी यात्राके महत्वपूर्ण अंग हैं। एक जिज्ञासाकी लहर सदैव मेरे मनको आलोड़ित करती रही कि सभी विद्वान आचार्योंने मोक्षकी प्राप्तिके लिए धर्माचरण पर जोर दिया तपस्या-त्यागकी महत्ताका निरूपण किया, पर क्रममें कामको मोक्षके निकट रखा। इसी जिज्ञासाकी तृप्तिके लिए सोचा-पढ़ा चर्चाएँ की और जो कुछ समझ सका उसका प्रस्तुतीकरण ही मेरा आजका प्रतिपाद्य है। मेरा अल्पचिंतन आपको संतुष्ट कर सकेगा, इसका दावा तो नहीं है...पर अपनी बात कहनेका प्रयास अवश्य है।

मुझे एक बात समझ में आई है कि धर्म और मोक्षके मध्यका जो सेतु है उसके बीच में अर्थ और कामके दो स्तम्भ हैं। धर्म लौकिक जगतसे ब्रह्मजगतकी ओर पथ निर्दिष्ट करता है पर इस अलौकिकतासे पूर्व उसी धर्मका अर्थात् सदाचरणका पालन करते हुए लौकिक जीवनकी आवश्यकता-अर्थ और कामका निर्वाह करते हुए-उनका आवश्यकानुसार स्वीकार करते हुए भी मेरी कामना सदैव मोक्षकी रहे। और जब मेरा लक्ष्य मोक्ष रहेगा...तो मेरे अर्थ और काम स्वयं छूट जायेंगे और मैं... लौकिकतासे अलौकिकता, जगतसे ब्रह्मके सामीप्यको पा सकूँगा।

मैंने महसूस किया कि बड़े से बड़ा त्याग करनेके पश्चात्, तपस्या करनेके पश्चात् भी मैं अपने दो शत्रुओं-क्रोध और काममेंसे किसी तरह क्रोध पर तो विजयी हुआ पर कामजयी नहीं बन पाया। मैंने जब कारणोंकी खोज की तो मैं अपने ही सामने नंगा हो गया, क्योंकि मैं जो ध्यान कर रहा था उसमें विषयोंका त्याग तो था ही नहीं। मेरे अंदर तो विषयोंके संकल्प उठते रहे और उन्हींकी ओर मैं कामाशक्त होकर मुड़ता

गया...बढ़ता गया। मेरा चित्त उस दो राहे पर खड़ा था जिसको एक ओर जड़ अर्थात् जगतके पदार्थोंकी चकाचौंध अपनी ओर खींच रही थी और दूसरी ओर ज्ञानका अर्थात् ब्रह्मका परमप्रकाश जगमगा कर आलोकित कर रहा था। मैं किधर जाऊँ? और जैसे ही दुविधा में खोया...अनर्थ हो गया। चकाचौंधने मुझे भ्रमित कर दिया। मेरे मनको होना तो था ज्ञानाकार स्वरूपी पर बन गया विकार रूपी। आचार्योंने सच ही कहा है कि इस जगतके ये पदार्थ या यों कहूँ कि ये आकर्षण इन्द्रियों पर अपना जाल फैला कर उन्हें भ्रमित करते हैं। दृश्य जड़ जगतकी स्थूलता, बाह्य सौन्दर्य और कामका परम-स्वभाव-विलास मेरे चित्तको वैसे ही घेर लेते हैं जैसे किसी उत्तम राजाको चाटुकार लोग चारोंओरसे घेर लेते हैं और फिर परिणाम... परिणाम होता है-भयंकर आत्मघाती पतन। चापलूसों से घिरे राजा न तो अपनी आंखोंसे सत्यको देख पाता है, न सुन पाता है। फिर सत्यासत्यका वह निर्णय भी कैसे करे? वह तो चापलूसोंकी चापलूसीमें ही जैसे सब कुछ भूल जाता है। ठीक वही दशा मेरे चित्तकी हुई। जड़ पदार्थोंके चापलूस काम-क्रोध-मद और लोभ मेरे चित्तरूपी राजाकी वैसे ही दशा बनाए रहे। यदि एक बार भी मैं आंख खोलकर...चैतन्य-स्वरूपी [illegible] को समझता तो एक असह्य वेदनासे बचता और फिर [illegible] पाता आत्माके अपने स्वरूपको और पहुँच जाता मोक्षके द्वार पर। [illegible] काम मेरा [illegible] न बनता पर मैं उसके मस्तक पर पांव रखकर [illegible] मोक्ष पर पहुँच जाता। मेरी अज्ञानता तो देखो! [illegible] था...उसमें ही मेरा मेल मानता [illegible] पदार्थोंसे, विजातीय भावोंसे संबंध जोड़ता [illegible]...तो मेरा अपनापन ही छूट गया।

[illegible] था जिसमें [illegible] [illegible] है। [illegible] है। [illegible]

अर्थात् उसके गर्भमें जमी हुई काई, उसके जलमें उठती हुई तरंगे एवं उसके ऊपरी जल पर छाई हुई धूल उसके स्वच्छ जलमें दूषण बन जाते हैं वैसे ही इस मन-सरोवरमें काई रूपी विकारोंकी गंदगी, तरंगरूपी चंचलता एवं धूल रूपी बाह्य मायाके आवरण उसके शुद्ध निर्मल सच्चिदानंद स्वरूपको दूषित बनाते हैं। और इन्हीं तीन विकारोंसे मैं शुद्ध नहीं हो पाता। यह स्वाभाविक है कि जब तक इस चित्तमें विकारोंके अर्थात् कामासक्तिके संकल्प-विकल्प उठते रहेंगे तब तक मोक्षका मार्ग दिखाई नहीं देगा। तात्पर्य यह है कि काम और मोक्षके बीचका, विकारोंका, विकल्पोंका आवरण हटाना होगा।

देखिए एक बात तो मैं भी समझी...आप भी समझें कि विषयोंका ध्यान, उनमें आसक्ति ही मेरे मोक्षमार्गकी सबसे बड़ी बाधा है। और इसलिए गीता में कहा है– "विषयोंके ध्यानसे आसक्ति होती है। आसक्तिके कारण विषयोंका संग होता है। इसी 'संग'मेंसे काम अर्थात् भोगासक्ति प्रगट होती है। जब इस काम पूर्तिमें कोई निष्फलता या विलंब होता है तब क्रोधकी ज्वाला प्रगट होती है। और यही क्रोध समोह उत्पन्न करके स्मृतिका नाश करता है, जिससे बुद्धिका नाश होता है। और बुद्धिके नाश होते ही अधःपतन होता है। इस संदर्भमें राजा नहुषके पतनकी कहानीका स्मरण होता है–धरतीका महान तपस्वी, तेजपुंज चक्रवर्ती राजा नहुष अपने सद्चरित्रसे स्वर्गको भी धरतीके चरणों पर झुका देता है। मनुष्य होते हुए भी उसे स्वर्गका अधिपति इन्द्र बनाकर उसका अभिषेक किया जाता है। पर एक दिन सद्य-स्नाता इन्द्राणीको देखकर उसकी साधनाकी पर्ते झड़ गई। इन्द्राणीके प्रति उसकी आसक्तिसे उसमें काम-वासनाका तीव्र उदय हुआ और इन्द्राणीकी प्राप्तिके लिए वह अपने अधिकार आदि उपायोंका प्रयोग करने लगा। इन्द्राणीका यह प्रस्ताव कि यदि, राजा ऋषियों द्वारा उठाई गई

राजाने कोई विचार न किया। उसकी स्मृतिका नाश हो गया...बुद्धि भ्रष्ट हो गई और जिन महर्षियोंकी वंदना करता था उन्हींसे अपनी पालकी उठवाई। कामांध नहुषको एक-एक पल युग-सा लंबा लग रहा था...उसका विवेक चुक गया—वह ऋषियोंको पाँवकी ठोकर मार बैठा... परिणाम क्या निकला? उसे ऋषियों...श्राप सहकर सर्प बनना पड़ा। इससे बड़ी अधःपतनकी कहानी और क्या हो सकती है?

मेरी समझमें एक बात यह भी है कि काम मात्र भोग-संभोगके सीमित अर्थमें ही नहीं है उसका समावेश सर्वत्र है। उसका एक रूप है 'वासना'। वासना कामासक्ति है। किसी भी वस्तुका निरंतर ध्यान, उसकी चाहना हो तो वासना है। यही वासना मृत्युका कारण भी बनती है। देखिए संगीतकी वासनामें हिरन सामने जाकर वधिकका शिकार बनता है। रूपका आकर्षण पतंगेको दीपक पर जलाकर भस्म कर देता है। रस लोलुपी भ्रमर जो काठको भी काट डालता है-कोमल कमलमें अपने प्राणोंको विसर्जित कर देता है। गंधकी वासना कस्तूरीमृगकी स्वयं मौतका कारण बनती है,। और स्पर्श-सुख, संभोग-सुखके भ्रममें हाथी नकली हथिनीके भ्रममें अंधा होकर खोदे हुए गड्ढेमें गिरकर अपनी स्वतंत्रताका विनास कर लेता है। अर्थात् एक इन्द्रीकी वासना प्राणियोंकी मृत्युका कारण बनती है...फिर मनुष्य जिसमें पाँचों इन्द्रियोंकी वासनाएँ जागृत हो रही हैं उसका क्या होगा? मैंने संकल्प किया था जितेन्द्रिय यहाँ पर वासनाने मुझे 'काम'के कारागृहमें वन्दी बना दिया। लेकिन वासनासे मुक्तिके उपाय हैं—आचार्योंने कहा है कि जिस दिन तू काम-वासना पर दर्शन-ज्ञान और चारित्रसे विजय प्राप्त कर लेगा-उसी क्षण तू जितेन्द्रिय बन जायेगा। कितने महान थे कृष्ण जो गोपियोंके नाथ होते हुए भी इन्द्रिय भोगोंसे परे थे। सोनेकी द्वारकामें रहकर भी उसके [illegible] की कल्पना कर सकते थे। राजा होते हुए भी राजमदसे परे थे। और हम हैं...कि अत्यंत [illegible] विनोनी वासनासे ही लिपटे हैं। हमारी स्थिति तो ठीक उस [illegible]की भांति है, जो एक चोराहे पर

बैठकर भीख मांगता था। एक बार एक राजा वहांसे गुजरा। राजा कहता है...भिक्षुक! माँगो तुम्हें क्या चाहिए? मैं यहाँका राजा हूं। 'राजा' शब्द सुनते ही भिखारीकी स्थिति बड़ी विचित्र हो गई। वह सोचने लगा जब राजा ही सामने खड़ा है तब कम क्यों मांगू? पर क्या मांगू...कितना मांगू यह निश्चय ही वह न कर सका। वह जितना भी मांगनेका संकल्प करता...उसकी इच्छा उससे भी अधिक हो जाती। उसकी वासनाएँ सुरसा सी बढ़ती गई! और वह निश्चय ही न कर पाया। परिणाम...परिणाम निकला कि राजा उसको मौन देखकर चला गया। भिखारी कुछ न पा सका। भूखसे विकल ही रहा। हम भी तो छोटी-सी तृप्तिके लिए अधिकसे अधिक साधनोंके चक्करमें ही अतृप्त और विकल हैं।

जहाँ मैं कामके इस मलिन स्वरूपकी चर्चा कर रहा हूं वहाँ मैं यह कहना चाहता हूं कि काम अर्थात् वासना या भोगोंका त्याग करना और ब्रह्मचर्यका पालन करना। हमारे यहाँ प्रायः सभी धर्माचार्योंने, चार्वाकको छोड़कर जिसने पंचमकारको मुक्तिका साधन माना-ब्रह्मचर्यको ही मोक्षके लिए परमावश्यक तत्त्व माना है–रत्नकरंडश्रावकाचारमें श्री समंतभद्रसूरि स्पष्टरूपसे ब्रह्मचारीकी संसारके भोगोंके प्रति दृष्टिका उल्लेख करते हुए कहते हैं :—

"मलबीजं, मलयोनि गलन–मलन पूतगंधबीभत्सं
पश्यंनंग मनगा द्विरमति यो ब्रह्मचारी सः।

अर्थात् ब्रह्मचारी इस शरीरको मल, मूलका दुर्गन्धयुक्त बीभत्सता उत्पन्न करने वाला शरीर मानकर उसके प्रति सदैव घृणा करता है उसमें आसक्त नहीं होता। उसके लिए तो यह शरीर एक फूटा घड़ा है जिसमें निरंतर दुर्गन्धका प्रसरण होता रहता है। यही कारण है कि इस पौद्गलिक शरीरको घृणित जानकर त्याग करता है–और ब्रह्ममें चरण करता है–लीन बनता है।

कभी कभी यह काम इतना प्रबल आक्रमण करता है कि मोक्षके

निकट स्थित आत्माको भी अनंत दूरी पर फेंक देता है। एक उदाहरण देखिए:-

एक साधु...जिसका मुखमंडल दैदीप्यमान था ब्रह्मचर्यके तेजसे। जिसके शरीरकी बलिष्ठता उसकी साधनाका प्रतिबिंब थी। उन्नतभाल, विशाल बाहु और तेजसे दीप्त आंखों अपनी ओर चकित और आकर्षणसे किसी को भी आकर्षित कर लेते थे! एक दिन भिक्षा मांगते-मांगते पहुंच जाते हैं नगरकी राजनर्तकी रूप और यौवनकी साम्राज्ञी के द्वार पर। नर्तकी जो नगरके रसलोलुपी कामी भ्रमरोंकी केन्द्र थी। उसके रूपमें चुंबक कीसी शक्ति थी। वह स्वयंके भिक्षा देने योगीके पास द्वार पर आती है। पर यह क्या हो गया! आश्चर्य!! योगी खो गया नर्तकी की आँखोंमें। भूल गया अपनी तपस्याके तेजको। उसके तपस्या और ब्रह्मचर्य पिघलने लगे-रूपकी आंचमें। और जब नर्तकीने कहा-योगी भिक्षा स्वीकार करो। योगीकी चेतनी लौटी पर भावना न लौट सकी और वह मांगने लगा-"नर्तकी मुझे भिक्षामें भोजन नहीं...पर अब मैं तुम्हें चाहता हूं।" अपनी आँखें नर्तकीके चेहरे पर गड़ा दीं। नर्तकी विचारोंमें खो गई। उसने कहा-महाराज मैं कल तुम्हें मिल जाऊँगी। ब्रह्मचारी एक दिनकी अधीरता को लेकर लौट पड़ा। पर अब उसे चैन कहाँ था? आज उसका मन ध्यानमें नहीं लगा। उसे ईश्वरकी जगह मात्र नर्तकी दिखाई दी और कल्पनामें उसके साहचर्यका अनुभव ही किया।

इधर नर्तकी विचारोंमें डूब गई। सोचने लगी-मेरा जीवन पूरा भोगविलासमें डूबा है। यह शरीर अनेकोका भोग बन चुका है। पर वे सभी तो कामके दास थे। पर यह अशुच शरीर इस योगीको क्यों भ्रष्ट करें? जैसे उसने कुछ निर्णय कर लिया। एक डॉक्टरको बुलाकर अपने शरीरसे रक्त निकलवाकर एक कटोरेमें भरवा दिया। रक्त निकलनेसे उसके सुन्दर कमलसे प्रफुल्लित चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई। दूसरे दिन कामातुर योगी नर्तकीको प्राप्त करने पहुँचता है। आवाज देता है।

व्यक्तिको आनंदलोक या ब्रह्मलोकमें भी प्रतिष्ठित करेगा। भीष्मकी दृढ़ प्रतिज्ञा क्या कभी भुलाई जा सकेगी ? तीर्थंकरोंकी निर्ग्रंथ-मुद्रा युग युगांतर तक इस ब्रह्मचर्यके तेजकी प्रेरणा देती रहेगी। तीर्थंकरोंके साथ हम भामंडलकी चर्चा करते हैं। यह भामंडल क्या है ? मेरी दृष्टिसे यह वही प्रभामंडल है जिसकी प्राप्ति तब होती है जब तीर्थंकर कामजयी बनकर केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं। यही तेज और तपस्याका ज्योतिपुंज उन्हें तो प्रकाशित बनाता ही है पर विश्वको एक नई ज्योति प्रदान करता है।

'काम' पर जितना कहूं उतना ही कम है पर साररूप यह कहा जा सकता है कि शाश्वतसुख-मोक्षकी प्राप्तिमें सर्वाधिक बाधारूप तत्त्व काम है जो आत्म-प्रकाश नहीं होने देता और आत्मोन्नयनमें सदैव विघ्नरूप बनता है। *जिस दिन 'काम' पर विजय होगी उसी दिन* मोक्षके द्वार पर हमारा स्वागत होगा। कबीरकी भाषामें उसी दिन हम अनहदनाद सुन सकेंगे और तभी हमारी आत्माका प्रतिभा-मंडल स्वयं प्रकाशित हो उठेगा। तभी मैं और आप सच्चे आनंदलोकके पथिक बन सकेंगे। हमारे लिए जीवनका यह अप्रतिम स्वर्गीय आनंद होगा-पलायन नहीं। कामकी साधना असिधारा व्रतकी साधना है।

अंतमें इतना ही *कहूँगा कि हे प्रभू ! मोक्षकी मंजिल बहुत दूर है...* मैं उसका पथिक बना हूँ मुझे शक्ति दो कि उस पर चलता ही रहूँ... चलती ही रहूँ...।

"मेरा मन संयत बने कामरूपी पापाको मनसे निकालकर मोक्षरूपी ब्रह्ममें रमण करूँ। क्योंकि गीतामें स्पष्ट कहा है—

"मनएव मनुष्याणाम् कारणं बंध मोक्षयो"...

"अहम्‌से ओंकार (ॐकार) तक ऊर्ध्वगमन"

कवि की ये पंक्तियां "मुझसे मेरा अहम् बड़ा है।" गुनगुनाते समय ऐसा महसूस हुआ कि इन चन्द शब्दोंमें हमारे जीवनका अपना अवलोकन बोध समाया हुआ है। मैं मुझसे बड़ा हो गया। अर्थात् मेरा अहम् मेरे वास्तविक व्यक्तित्वसे भी ऊँचा हो गया। अहम्‌की पर्तोंमें मेरा व्यक्तित्व दब गया—या यों कहूँ कि मेरा सही स्वरूप दब गया।

भारतीय धर्मोंमें क्रोध-मान-माया और लोभ इन चार कषायोंकी विपुलतासे चर्चा की गई है। ये चार कषाय हमारे ब्रह्म स्वभावको ब्रह्मसे विमुख बनाये रहते हैं। धर्मकी शब्दावलीमें कहूँ तो-अनन्त लाख-चौरासीमें भटकाते हैं। चतुर्गतिमें भ्रमण कराते हैं। इन अनन्त युगों-जीवनोंकी वेदनाके पश्चात् भी मैं अपनेमें व्याप्त मान-कषाय अर्थात् अहम्‌से मुक्त नहीं हो पाता। परिणाम स्वरूप उसी चक्रमें चकराता रहता हूँ।

कितना विचित्र लगता है, जब इस मनुष्य जीवनको पाकर भी मैं भ्रममें हूँ! अरे! यही मनुष्य जीवन तो ऐसा है जिसमें मैं सत्-असत् पर विचार कर सकता हूँ। आत्माके सच्चिदानन्द स्वरूपको पहचान सकता हूँ। यहींसे मैं धरतीसे आकाशको छू सकता हूँ। मेरी यात्राका लक्ष्य स्वर्ग नहीं—अपितु मोक्ष है। 'मोक्ष अर्थात् सम्पूर्ण मुक्ति'। एक प्रश्न मेरे मनमें उठा—'किससे मुक्ति'? क्या इस जीवनसे मुक्ति..." क्या संसारके पदार्थोंसे मुक्ति? सोचने पर उत्तर मिला—यह मुक्ति तो अल्पविराम है। एक जीवनसे मुक्ति दूसरे जीवनमें मात्र परिवर्तन है। पर, मैं तो उस मुक्तिको चाहता हूँ जिसमें यह आत्मा कैद है। कषायोंके घेरेमें कैदी है। मैं तो उस मुक्तिको चाहता हूँ जो जन्म-मरणकी अन्धगलियोंसे छुटकारा दिला दे।

भाई ! यह चाहना सरल है, कामना सरल है। पर, उसे पानेके लिए कुछ छोड़ना होगा–कुछ जोड़ना होगा। मुक्तिकी चाहना या ब्रह्मकी प्राप्ति की कामनाका अर्थ होगा ईश्वरके प्रति प्रेम और इस जगतके प्रति उदासीनता। दूसरे शब्दोंमें कहूँ तो आत्माका जो स्वभाव नहीं है–ऐसे पर पदार्थोंके प्रति अनासक्ति। मुझे उस ईश्वर या ब्रह्मके प्रति समर्पित होना होगा; प्रेमके इस जगतमें सब कुछ लुटाना होगा तभी उसे पा सकूँगा। अन्यथा, मैं उसे पानेकी कोशिशमें हाथ पांव ही छटपटाता रहूँगा। किनारा नहीं मिलेगा। अपने इसी विधानको मैं यों भी कह सकता हूँ कि प्रेमके क्षेत्रमें प्रवेश पानेकी पहली शर्तके रूपमें मुझे नम्र बनना पड़ेगा। ऋजुता एवं मृदुता मेरा मूल गुण बने—यह प्रथम कार्य करना होगा। कबीरने तो इसी प्रेमका ही दूसरा नाम ... कहा है; उसे पानेके लिये नम्रता, निरभिमानता भेदभावसे मुक्ति ... पूर्वशरतके रूपमें आवश्यक माना है। वे चार पंक्तियोंमें ही ... कह देते हैं—

"पीया चाहे प्रेमरस, राखा चाहे मान।
एक म्यानमें दो खड्ग, देखा सुना न कान॥
यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नहिं।
शीश कटाये, भू धरे सो पैठे घर माहिं॥"

कबीर ही क्यों प्रायः सभी संतोंने अपनी ... है कि 'मान' ही वह अड़चन है जो हमें ईश्वरसे ... ईश्वरमय नहीं बनने देती। यही मान है जो ... खल-कामी बना देता है। यही मान तुलसीके ... बनाये रहता है। अहम्की यही गंदगी ... ईश्वरीय तथ्यको समझने ही नहीं देती। ... संवाद–दो कीड़े थे। एक गंदी नालीमें ... भरता था। दूसरा फूलोंसे महकते बगीचेमें ...

घूमता था। दोनों एक दूसरेके परिचित थे। एक बार कीचड़के कीड़ेने बगीचेके कीड़ेको आमंत्रित किया। उस बेचारेने गंदगी देखी ही न थी। यहाँ आकर उसका सिर फटने लगा। दो क्षण भी जीना मुश्किल हो गया, फिर भोजन की बात ही कहाँ थी? जाते-जाते उस कीड़ेने गटरके कीड़ेसे कहा–"तुम कैसी गंदी और बदबूदार जगहमें रहते हो! तुम मेरे साथ चलो...फूलोंकी सुगंधमें रहो। कुछ दिन बाद आनेका वादा करके गटरके कीड़ेने उसे विदा किया। एक दिन गटरके कीड़ेने बगीचेमें जानेका निश्चय किया, पर उसे शंका थी–क्या पत्ता वहाँ कैसा लगे? वहाँका भोजन रुचेगा या नहीं? अतः थोड़ीसी गंदगी अपनी डाढ़में छिपाकर ले गया। बगीचेके कीड़ेने उसका सन्मान किया। उत्तम मधुका भोजन कराया। गटरके कीड़ेको कोई आनंद न आया। उसने कहा "यार स्वाद नहीं आ रहा है।" बड़ा आश्चर्य हुआ उस कीड़ेको। उसे कुछ विचार आया...और उसने गटरके कीड़ेसे कहा—"जरा मुँह तो खोलो।" ज्योंही उसने मुँह खोला तो देखा कि डाढ़के बीचमें गंदगी चिपकी है जो फूलोंके रसास्वादनमें अड़चन बनी हुई है। गटरके कीड़ेका मुँह साफ कराया। गंदगीके दूर होते ही गटरके कीड़ेको मधुका स्वाद प्राप्त होने लगा।

क्या हमारी दशा गटरके कीड़े जैसी नहीं है? क्या अभिमानकी गंदगीको रखते हुये हम सच्चे प्रेमको, ब्रह्मके आनन्दको पा सकते हैं? क्या इस अहम्के दल-दलमें फँस कर ऊर्ध्वगामी बन सकते हैं? यदि उत्तर नहीं है तो फिर निष्कर्ष निकला कि हमें इस गंदगीको दूर करना होगा।

हम सबने शब्द सुना है 'मद'। अर्थात् नशा। नशा बुद्धि भ्रष्ट कर देता है। कुछ आधुनिकताके चक्करमें जरूर कह देते हैं कि नशेसे चितायें दूर हो जाती हैं! उनसे पूछो क्या उनकी चितायें सदैवके लिये दूर हो जाती हैं? दोस्तो! नशा नाशका सर्वाधिक सबल कारण होता

है। पर, हम अहम्के कारण, जानते हुए भी नशा करते ही रहते हैं। अरे! जब बाहरी शराब आदिका नशा बुद्धि भ्रष्ट कर देता है—स्वयंको भुला देता है, फिर अहम् या मान जो मदके ही पर्यायवाचीसे हैं, जो मेरे अंदर ही जन्मे हैं—मेरी क्या दशा करेंगे? इस पर कभी विचार ही नहीं किया। कल्पना मात्रसे एक सिहरन सी दौड़ जाती है मेरी रग-रगमें। मैं जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें इसी मदको सत्य समझ बैठा। कभी मैंने मनुष्य योनिका मद किया, कभी रूपका, कभी रंगका, कभी धनका, कभी शक्तिका, कभी विद्याका, कभी परिवारका। बस, इन्हींको अच्छे-बुरे या ऊँच-नीचकी कसौटी बनाये रहा। यह मेरा दुर्भाग्य ही था कि अपने रूप, रंग, जाति, धनके अहम्में मैं सबको अपनेसे छोटा समझता रहा; या फिर मैं दूसरोंसे श्रेष्ठ हूँ यह प्रदर्शन करनेकी धुनमें सदैव भटकता रहा। इसी चक्करमें द्वेष-दंभका शिकार बना। इस मान-कषायने मुझमें द्वेष भर दिया और मैं घोर पतनकी ओर खिंचता गया। अपनी श्रेष्ठताकी सिद्धिमें मैंने दूसरोंको गिराया, उनका अहित किया। पर, वास्तवमें देखा जाये तो मैं अपनी आत्माका ही अहित करता रहा।

कभी-कभी मैं विचार करता हूँ कि आज हमारी अर्थात् व्यक्ति, राष्ट्र या विश्वकी सर्वाधिक बड़ी समस्या युद्ध है। पारस्परिक भय है। इन समस्याओं या भयके कारणोंमें उन राज्यकर्ताओं, राजनीतिज्ञोंका अहम् ही है जिनके कारण लाखों निर्दोष व्यक्तियोंका खून पानीकी तरह बहा दिया जाता है। हमारा और आपका झगड़ा भी इसीलिये है कि हम एक दूसरे पर अपने अहमको लादना चाहते हैं। जहाँ इसमें टकराव है—वहीं संघर्ष है। मैं आपसे भयभीत सिर्फ इसलिये हूँ कि आप मुझसे शक्तिशाली हैं। आपकी शक्तिका मद मुझे दबोचे हुए है। यही अहम् मनोविज्ञानकी भाषामें कहूँ तो मनुष्यमें प्रभुता या लघुता ग्रंथिको जन्म देता है।

एक बार एक ऐश्वर्यशालिनी अपनेको रूपकी साम्राज्ञी मानने वाली

कि निर्भार रही। लेकिन ज्यों ही 'परमय' बन गया, अहम्का सम्पर्क हुआ तो भारयुक्त हो गई। मैं प्रेमोन्मुख न बनकर अभिमानोन्मुख बन गया। इसी अहम्से जब आत्मा मुक्त बनती है तो उसमें दया और करुणाके झरने, झरने लगते हैं। प्रेमकी झंकृतियाँ झंकृत होने लगती हैं। हम सब जानते हैं कि किंचित् अहम् भगवान महावीरको जन्म जन्मांतरोंमें भटकाता रहा। पर इन्हीं महावीरमें जब अहम्का तिरोहण हो गया तो साँपके काटने पर, कानमें कीलें ठोके जाने पर भी वे करुणा और निरभिमानकी मूर्ति बने अडिग सहन करते रहे। पार्श्वनाथ पर कमठका उपसर्ग भी बेकार गया। प्रह्लादके निरभिमानसे ही हिरण्यकश्यपका मान गलित हुआ। वर्तमान युगमें पू. गांधीजीके निरभिमानने ही इतनी बड़ी सत्ताको घुटने टेकने पर मजबूर किया। इतना समझ लेना चाहिये कि यह अहम् ही बन्धका कारण है। पापोंका आस्रव मूल है। सम्यग्दर्शनमें बाधा स्वरूप है। इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि अहम् वह [illegible] है जो आत्माके सच्चे स्वरूपको देखने ही नहीं देता।

[illegible] सब बातकी चर्चाका सारांश यही है कि अहम् मेरे-हमारे [illegible] है। मेरा [illegible] यह होना चाहिये कि इस अहम्को [illegible] तो उसके लिये मुझे [illegible] [illegible]

वहींसे कर्मोंका (विशेषकर पापकर्मोंका) संवर होने लगेगा। कमसे कम नये पापोंके बन्धसे मुक्त हो गया। तव, तव मुझे अपनी साधना, तपस्या द्वारा इन्हीं पापोंकी निर्जरा करनी पड़ेगी। नई भाषामें कहूँ तो मुझे अन्तर्मुखी बनना पड़ेगा। अपनेको अपनेमें खोजनेकी यात्रा ही मेरी सच्ची साधना होगी।

हम सब ॐ लिखते हैं। इसमें भी देखिये बिन्दु तक पहुँचनेके बीच एक ˘ है जो हमें सरलतासे बिन्दु अर्थात् मोक्ष तक नहीं पहुँचने देता। यही ˘ तो अहम् या कषाय या मायाका प्रतीक है। तो भाई! मुझे इसे ˘ को भेदना है। यह भेदन साधनासे ही संभव है। इन कषायोंको जलानेके लिये अपने अंदर ही संयमकी ऊर्जाको और प्रज्वलित करना होगा। जिस दिन मेरी इन्द्रियाँ मेरी हो जायेंगी उस दिन मैं जितेन्द्रिय बन जाऊँगा। अपना स्वामी बन जाऊँगा। इन्द्रियोंका गुलाम मैं, इन्द्रियोंका राजा बन जाऊँगा। तब? तब होगी एक क्रांति। वह क्रांति ज्योति बनकर जल उठेगी। उसमें जलानेकी लपटें न होंगी, अपितु प्रकाशपुंज बिखरानेकी सौन्दर्य ज्योति होगी। 'अहम्' की ज्वाला ओंऽकारकी ज्योतिमें परिवर्तित हो जायेगी। मेरी बाधाके रोड़े बने अहम्के पत्थर ऊर्ध्वगमनके हेतु सीढ़ियोंमें परिवर्तित हो जायेंगे।

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जिस दिन हम इस ॐ के निकट अर्थात् ब्रह्मकी निकटताको महसूस करेंगे उस दिन कबीरकी भाषामें एक अनहद नाद गूँज उठेगा। 'वीर' की वाणीमें कहूँ तो एक करुणाका स्रोत फूट पड़ेगा। एक भामंडल मेरे चारों ओर मुझे तो प्रकाशित करेगा ही—विश्वको एक तेजपुंज प्रदान करेगा।

इस सत्यका अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हम इतना सब जानते हैं, प्रयास भी करते हैं कि अभिमान छूट जाये पर, छूटता नहीं

है। इसका एक मात्र कारण है, मनकी चंचलता अभी मनकी चंचलता नहीं छूटी, वासना नहीं छूटी उसमें स्थिरता नहीं है। पर, इसका यह मतलब नहीं है कि हम प्रयत्न ही न करें। मेरा आपसे यह भी कहना नहीं कि हम सभी 'अहम्' को छोड़नेके लिये साधु बन जायें...फिर सब ऐसा कर भी नहीं सकते। यह सत्य है कि हर आदमी गंतव्य मंजिल तक नहीं पहुँच सकता, पर राहों पर चलनेका प्रयास हर आदमी कर सकता है। पारस्परिक मैत्री इसका प्रथम चरण है। अन्तर्मुखी होनेकी वृत्ति इसका ईश्वरोन्मुख होनेका प्रथम प्रयाण है। साधना इसका संबल है। इसी साधनाके माध्यमसे हम एक दिन इस ॐकार तक उठ सकते हैं। उसके नैकट्‌यका अनुभव कर सकते हैं।

" दमनसे शमन "

प्राचीन भारतीय दर्शनोंमें चार्वाकदर्शनको छोड़कर प्रायः सभीने तपस्या या तपको महत्त्व दिया है। प्रायः सभीने आत्मदर्शनके लिये संयम पर जोर दिया और संयमके लिए तपको आवश्यक तत्त्व माना। भगवतगीतामें इसीलिए स्पष्ट रूपसे कहा है—

" तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थात् सभी इन्द्रियोंको संयमित रखकर व्यक्ति समाहित रहते हुए भगवत्परायण रहे। जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें किया है वही स्थितिप्रज्ञ है। यों कहना सच ही होगा कि मनका संयमित करना ही ईश्वर या मोक्ष प्राप्तिका मुख्य उपाय है। गीता ही में मनको मनुष्यके मोक्ष या बंधका मूल कारण माना है।

मन और इन्द्रियोंका पारस्परिक संबंध है। इन इन्द्रियोंका संयमन मनको संयत बनाता है यही इन्द्रियविजय ही जैन-दर्शनकी भाषामें जितेन्द्रियता है। जहां इन्द्रियां मनसे स्वतंत्र हुई वहीं स्वच्छंदताकी ओर अभिमुख होकर जीवनको पतनके गर्तमें डाल देती हैं। इन्द्रियां निरंतर वासनाओंका सान्निध्य पाकर असंयमित रहती हैं—उनका (वासनाओं) विस्तार सुरसा से भी अधिक विस्तृत होता जाता है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति में अतृप्तिकी, अभावकी भावना पनप कर उसे दुखी बनाती है। इसी अतृप्ति या वासनाको काबूमें रखनेके लिए संयमका अंकुश लगानेका आदेश सभीने दिया है। इस संयम की प्राप्ति एवं आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए तप या तपस्याका मार्ग सभीने स्वीकार किया। इसीलिए जैनदर्शन में—" इच्छानिरोधस्तपः " कहकर इच्छाओंके निरोधको ही तप कहा है। इससे पूर्वकी मैं अपने शीर्षकको स्पष्ट करूँ 'तप' क्या है उसे समझानेका

प्रयास करूँगा। तपका सही अर्थ एवं भावार्थ समझनेके साथ ही मेरा कथ्य विषय स्वयं स्पष्ट हो जायेगा।

मैं ऊपर इस तथ्यको स्पष्ट करनेका प्रयास कर चुका हूँ कि इन्द्रियों पर मनका आधिपत्य ही संयमका मुख्य आधार है। इसे इस रूपकसे स्पष्ट करना चाहूँगा —

मनरूपी पतिकी इन्द्रियाँ रूपी पांच पत्नियाँ हैं। जब तक इस मन-पतिका स्वयं संयत रहकर इन पर संयम बना रहता है तब तक व्यक्ति वही करता है जो आत्माके लिए उपकारक है, पर जब इन इन्द्रिय रूपी नारियोंका आधिपत्य राजा पर हो जाता है तभी अराजकता फैल जाती है—परिणाम स्वरूप आत्मा आस्रवके दल-दल में फँसने लगता है। बस इसी राजाको निरंतर जागृत रखनेका कार्य यह तप करता है।

यद्यपि 'तप' शब्द कुछ भयावह लगता है। उस तपको जब तक तपने या जलने अर्थात् कष्टका प्रतीक माना जायेगा तब तक यह तप भयका प्रतीक या कठिनाईका प्रतीक लगेगा परंतु यही तप जब अन्तरंग वीतरागता व साम्यताकी रक्षा या वृद्धिके लिये किया जाये तो वही तप सिद्ध होता है। जैनाचार्योंने बड़ी स्पष्टता से कहा है कि— अन्तरंग साम्यतासे निरपेक्ष किया गया तप कायक्लेश मात्र है, जिसका मोक्षमार्ग में कोई स्थान नहीं। इसीलिये सम्यक् तपका मोक्षमार्ग में एक बड़ा स्थान है। उ. यशोविजयजीने 'ज्ञानसार' में लिखा है—

"तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥

अर्थात् तप इस प्रकार करना है कि जिसमें दुर्ध्यान न हो; मन-वचन- [illegible] न हो और इन्द्रियों में कमजोरी न जन्मे।

[illegible] और [illegible] होगी कि पुद्गलोंके संयोगसे निर्मित [illegible] आत्मा बिल्कुल भिन्न है। यह सत्य है कि दोनों

एकसाथ होकर भी अपेक्षा की दृष्टिसे भिन्न है। शरीर यानी इन्द्रियों द्वारा किए जाने वाले कार्य या कर्म इस आत्माके साथ बंधते हैं जो आस्रव रूप हैं। इन्हीं के कारण आत्मा अनन्त योनियोंमें भटकते हुए सुख-दुख में फँसा रहता है आत्माके साथ जो कर्म बंधकर उसे बाँध रहे हैं उन्हें दूर करनेके लिए या उसका संवर (रोकना) करना और आगे बढ़कर उनकी निर्जरा (नष्ट करना) ही हमारे तपका साध्य होगा। उत्पन्न साध्यके लिए उत्तम साधन या मार्ग भी उतना ही आवश्यक है।

अनेक लोगोंने तपकी दमन या कष्टका प्रतीक मानकर उसे वाहियात वस्तु मानकर उसकी उपेक्षा की है। ऐसे लोगोंमें अधिकांशतः भौतिकवादी या वे लोग थे जिन्हें भोगवाद पर ही श्रद्धा थी। जो कर्ज करके भी घी पी लेनेमें धन्यताका अनुभव कर रहे थे। कालांतरमें पश्चिमी चकाचौंधने इनके मनको अधिक भोगवादी ही बनाया। तर्कका स्थान कुतर्क लेते गये। 'कल किसने देखा' की मान्यताने इनके आज' को मात्र इन्द्रिय-सुखमें डुबो दिया। पुनर्जन्म या कर्म आदिकी बातें इन्हें निरर्थक लगीं और पूजन-ध्यान या तपस्या शरीरको कष्ट देनेवाली क्रियायें ही लगीं। ऐसे लोग ही तपस्याको दमनकी क्रिया मानते हैं। परन्तु, भारतीय दर्शनोंमें इस प्रकारकी व्यवस्थाका स्वीकार नहीं किया। वे तो कहते हैं—" शरीर मात्र जला देनेके लिये नहीं है और न ही अनेकविध व्यंजनोंसे सहलानेके लिए है। पर, मन और इन्द्रियाँ गलत मार्ग पर न जायें और काबूमें रहें इस तरह वर्तन करना है।"

ये जप-तप या ध्यान मूलतः दो उद्देश्योंसे किये जाते हैं—
१- स्वार्थभावसे २- निस्वार्थभावसे।

जब मैं स्वार्थभावकी बात करता हूँ उस समय मेरा उद्देश्य उस हेतुकी तपस्या या तपसे है जहाँ किसी प्रकारकी सिद्धि मंत्र-तंत्रकी सिद्धि या संसारको चकित करके कुछ वाहवाही या चमत्कार जमानेकी भावना

रहती है। पंचाग्नितप आदि तप ऐसे ही तप हैं। ऐसे तप वर्षों तपनेके बाद भी तपस्वी वास्तविक सत्यसे कोसों दूर रहता है। ऐसे तप मुक्तिसे तो उल्टी दिशामें ही चलना है जो मंजिलसे दूर ले जाते हैं।

दूसरे प्रकारका तप जिसे मैं निःस्वार्थभावका तप कह रहा हूँ उसमें व्यक्ति शांतिपूर्वक देह और इन्द्रियोंकी विषम प्रवृत्तिको रोककर उन्हें तपा देते हैं। शांतिपूर्वक एवं चित्तकी प्रसन्नतासे किसी भी प्रकारकी हिंसक कार्य न करके दुःख सहन करते हैं। ऐसे तपस्वी किसी चमत्कार या लौकिक सिद्धिकी कामनाके स्थान पर, समभावी बनकर इस लोक और परलोकके सुखकी अपेक्षा न करके अनेक प्रकारका काय-क्लेश सहन कर निर्मल तपाराधना करते हैं। यहाँ मैं थोड़ासा और स्पष्ट कर दूँ समभावी कायक्लेशकी आराधनाका सारा ध्यान आत्माकी ओर अन्तर्मुखी हो जाता है। जब उस आत्मारूपी चमकते स्वर्ण पर जमा कषाय भावरूपी मलिनताको तपाकर उसे पुनः स्वच्छ कुन्दनसा बनानेका प्रयत्न करता है। इसका [illegible] करके निरंतर मुक्त होता है। यही कारण है कि [illegible] होने पर भी उनके चहरे पर मलिनता नहीं होती, [illegible] आभा चमकने लगती है।

[illegible] तीन परिणाम [illegible] है [illegible] हो जाते हैं। [illegible] नहीं [illegible] आ जाती है। [illegible]

देखता है द्वारे पर एक बुढ्ढा सी, झुर्रीदार चेहरेवाली औरत कपड़ेसे ढककर एक कटोरा लिए खड़ी है। योगी कहता है बाई...आप नहीं मुझे कल वाली चाहिए। वह उत्तर देती है–योगी...मैं हाँ वो कल वाली हूं...रहा रूप सो इस कटोरेमें है और कपड़ा हटाकर उस खूनसे भरे कटोरेको प्रस्तुत करती है।

योगी...सन्न रह गया। नर्तकीने कहा! हे मोक्षपथके पथिक इस खून पर ही तू लालायित होकर भ्रष्ट हो रहा था। इस शरीरको नर गीधोंने खूब नोचा है। पर तू भ्रष्ट न हो अतः मैंने तुझे इस सत्यसे अवगत कराया। योगी गिर पड़ा उस नर्तकीके चरणोंमें और उसे ही सच्चा गुरु मानकर पुनः ब्रह्ममें लीन हो गया। हम रोज ऐसे भी किस्से सुनते हैं–भोगते हैं पर कभी सत्यको समझा? प्रश्न तो यह है।

समाजमें भी कामी पुरुष हमेशा हीन और नीच माना जाता है। बदनामीका भोग बनता है। अनेक रोगोंका शिकार बनता है पर इस गंदगीसे निकल नहीं पाता फिर मोक्षकी क्या कल्पना की जाये?

'वासना' किसी भी रूपमें अतृप्तिकी ओर ही खींचती रहती है, और इसका 'भोग–विलास'का स्वरूप सदैव जलता रहता है। जैसे अग्नि पर गिरा हुआ घी उसे और अधिक प्रज्वलित करता है–वैसे ही वासना रूपी घृत कामाग्निको सतेज बनाता है। हम लोगोंने सुना है कि मथुरा के चौबे भोजनकी वासनामें अपने प्राणोंकी बाजी तक लगा देते हैं और कभी–कभी इसी कारण उनकी मृत्युके समाचार भी सुने जाते हैं।

भोग–विलास अनंतकालसे मेरी बुद्धिको भ्रष्ट किये हुए हैं। या यों कहूँ कि मेरे पतनका, भव–भ्रमणका कारण ही यह विलास रहा जिसने कभी मोक्षके द्वारकी ओर मुड़ने ही नहीं दिया। मैं विलासी और उससे पतित होकर व्यभिचारी बनकर अपने ही पतनका कारण बना रहा। सुभौम ७ वें चक्रवर्तीके पतनका कारण उनका भोजन विलास या भोजनकी वासना ही

तो थी। एक बार नावसे यात्रा करते समय जब बीच धारमें पहुँचते हैं तब उनका मल्लाह जो पूर्व भवका उनका रसोइया था और जिसे सुभोमने भोजन रुचिपूर्ण न कर सकने के दोषसे मरवा डाला था—वही इस भवमें मल्लाह बन कर बदला लेता है। पर 'णमोकार' में श्रद्धान्वित सुभोमको कैसे मारे? वह नाव डूबा देनेका भय बताता है—और राजाके गिड़गिड़ाने पर यह शर्त रखता है कि वह पानी पर णमोकार मंत्र लिखता जाये और पाँवसे मिटाता जाये... जीनेकी वासना उसे मोहमें फँसा देती है। वह वैसा ही करता है...परिणाम स्वरूप उसे डूबना तो पड़ता ही है, नर्कगामी भी बनना पड़ता है।

अपनी जिज्ञासाकी सविशेष रूपसे तृप्त करनेके लिए मैंने काम संबंधी प्राचीन भारतीय शास्त्रों और वर्तमान पाश्चात्य विचारधाराओंका किंचित् अभ्यास किया तो जाना कि वेदों, ब्राह्मण ग्रंथोंमें कामको इस प्रकार चित्रित किया है। "कामास्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत" कहकर ऋगवेदमें इसे सृष्टिके साथ ही उद्भूत एवं मनकी सर्वव्यापिनी बुद्धिके मूलतत्त्वके रूपमें प्रकट माना है। अर्थववेदमें इसे विश्वमें व्यापक तत्त्व कहा है। शतपथ ब्राह्मणमें कामको ब्रह्माके अंतरमें सृष्टि कामनाके रूपमें उत्पन्न माना गया है। ऐतेरेय ब्राह्मण मुंडकोपनिषद्में भी ऐसी ही मान्यताएँ हैं। काम मीमांसाका सर्वाधिक प्रसिद्धग्रंथ वात्स्यायनके कामसूत्रमें कामको समस्त इन्द्रियोंका प्रेरक तत्व माना गया है। इनसे भिन्न रूपमें गीतामें आसक्तिको ही कामकी उत्पत्तिका कारण माना है। यद्यपि महाभारतकारने कामको अद्वितीय शक्ति मानते हुए कहा है कि जहां यह वासनाका रूप है वहां श्रेयस्कर नहीं है। देखिए कितना सुन्दर रूपक है— "मनुष्यकी हृदय भूमिमें मोहरूपी बीजसे उत्पन्न एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम काम है। उसके क्रोध और अभिमान महान स्कन्ध हैं। कुछ करनेकी इच्छा उसमें जल सींचनेका पात्र है। अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद उसे सींचने वाला जल है। दूसरोंके दोष देखना

उस काम वृक्षके पत्ते हैं तथा पूर्व जन्ममें किए गये पाप उसके सार भाग हैं। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता उसकी डालियाँ तथा भय उसके अंकुर हैं और सदैव तृष्णारूपी लताएँ उससे लिपटी रहती हैं।

भौतिक संस्कृतिको केन्द्रमें मानने वाले पाश्चात्य विद्वानोंने इस कामको सहजवृत्ति माना है। प्रसिद्ध काम–विज्ञान मनीषी फ्रायडने कामको मनकी मूलवृत्ति मानकर उसकी व्यापकता पर जोर दिया है। उनकी मान्यतानुसार कामके दमनसे मानसिक बीमारियाँ बढ़ती हैं। और कामको ही वे व्यक्तिके उन्नयनकी प्रेरक शक्ति मानते हैं। अन्य विद्वान, एडलर जुंगने भी ऐसे ही मत व्यक्त किए हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो' के अनुसार काम वह मध्यस्थ शक्ति प्रदान करता है जो आत्माको सभी बंधनोंसे मुक्त कर सकती है। इन मान्यताओंके साथ ही डी. एच. लोरेंस की मान्यता भारतीय दर्शनके निकट है, कामकी महत्ताका स्वीकार करते हुए भी उसके अतिक्रमणको वे जघन्य मानते हैं। विकासवादके प्रणेता डार्विन कामको विकासका मूल तत्व मानते हैं और उसे सहजवृत्तिके रूपमें स्वीकार करते हैं।

इन विविध मान्यताओं, विचारधाराओंने मुझे और भी उलझाया। पर एक निष्कर्ष मुझे मिला कि पूर्व और पश्चिम दोनोंने कामका स्वीकार किया, उसे अनिवार्य माना पर पौर्वात्य संस्कृतिमें उसका स्वीकार वासनासे ऊपर उदात्त स्वरूपमें है जबकि पश्चिममें सहजवृत्ति बनकर मात्र भौतिक आकांक्षाओंकी पूर्तिका साधन बनकर रह गया। एक स्वीकृतिमें भी त्यागको महत्व देता है, दूसरा स्वीकृतिमें ही झंकृतिकी कामना करता है।

इस कथनके समर्थनमें मैं कामायनीसे भगवान मनुका उदाहरण देना उपयुक्त मानता हूँ। कामासक्त मनु श्रद्धाको छोड़कर नए भोगकी आकांक्षासे ईडाके पास पहुँचते हैं। दुष्प्रवृत्तियोंमें फँसकर उस पर कुचक्र बलात्कार करते हैं। पीड़ा सहन करते हैं। पर पुनः श्रद्धाको पानेके पश्चात् उनका दैहिक काम शमित हो जाता है। वे हिमालयकी ओर उस लोकमें जाना

चाहते हैं जहाँ काम आधिभौतिक धरातल पर स्थित होकर योगका साधन बने। उर्वशीकार दिनकरजीने भी गंदमादन पर्वत पर भोग हेतु आये हुए पुरुरवा और उर्वशीके काम-भोगकी चर्चा करते हुए भी इसी तथ्यका स्वीकार किया है कि इस दैहिक धरातलसे उठकर जब तनका काम वायवी धरातल पर प्रस्थापित होता है तब वह वासना रिक्त होता है और ऐसे धरातल पर हर पुरुष शिव और हर नारी शिवाकी ऊँचाइयोंको छूने लगते हैं।

मुझे यह भी लगा कि वर्तमान युगमें अधिकांशतः मनीषियोंने भारतीय दृष्टिकोणका ही समर्थन किया। वैसे भारतमें अनेक कथित चिंतक, भगवान, कामके पश्चिमी रूपको ही विकासका चरण मानने लगे हैं। वे कामकी तृप्तिमें विकास निहार रहे हैं पर, अंततोगत्वा उन्हें भी कामसे ऊपर, वासनासे परे एवं उदात्त भावनाका स्वीकार करना ही पड़ेगा।

भारतके सभी धर्माचार्यों, सन्यासियों, मनीषियोंने सदैव भोगवादी परंपराका विरोध करते हुए निवृत्तिको ही अधिक महत्वपूर्ण माना है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्ममें त्यागकी महत्ताका स्वीकार किया गया है। यह बात अलग है कि काम-भोगमें डूबकर ईश्वर ढूढ़ने वाले चार्वाक भी इसी देशमें जन्मे...और उनकी परंपरा आज भी जीवित है। पर चार्वाक सही नहीं था...अतः उसकी मान्यताएँ विपुल वर्गको स्वीकृत न हो सकीं। शायद इसका कारण यही रहा होगा कि भोग न तो शरीरको सुख दे सकते हैं फिर आत्माको सुख देनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए योगवाद सदैव भोगवाद पर विजय प्राप्त करता रहा। मैं पूछता हूं क्या पंचमकार मुक्ति दे सकते हैं? यदि आपका उत्तर 'ना' है तो मुझे प्रश्नका उत्तर मिल गया...मेरा समाधान हो गया कि यदि भोग मुक्ति या सुख नहीं दे सकते तो वे निरर्थक हैं। वे सुखाभासके प्रतीक हैं-प्यासको बढ़ाकर दुःखी करने वाले मोक्षके अवरोधक हैं।

कितना विचित्र है कि पश्चिम, भारतसे त्याग सीखनेको लालायित

है जब कि भारतीय नूतन विद्वान त्यागको पलायन बताते हैं। काम पर विजयके प्रयासको दमन कहते हैं-जीवनका गतिरोध मानते हैं। ऐसे लोगोंको अप्रगतिशील कहते हैं। कुतर्कोंके सहारे मुक्त कामका समर्थन करके नई पीढ़ीको गर्तमें ढकेल रहे हैं। सरलतासे, वैभव और भोगसे मोक्ष दिलाने वाले ऐसोंसे बचना पड़ेगा।

ऐसे लोग प्रेमके नाम पर कबीरका नाम लेकर उसकी दुहाई देते हैं। पर इनसे मेरा आपका एक प्रश्न है-क्या आज हम जिस प्रेमकी चर्चा करते हैं वह कबीरका प्रेम है। परोक्ष रूपसे तो ये लोग दैहिक वासनाओंको ही प्रेमके शब्दमें बांधकर, पश्चिमी यौन शास्त्रीओंके उदाहरण देकर उभारते हैं। सच्चा प्रेम तो मोक्षकी सीढ़ी है। और ऐसे प्रेमके निकट देहका अस्तित्व ही कब रह सकता है? इस प्रेमकी भूमि पर तो चराचरके प्राणी मात्रके प्रति प्रेमका विस्तार होता है। जिसे मैं यों कहूँ कि मेरी करुणामयी आत्माका विस्तार होता है। ऐसे प्रेमी तो थे भगवान महावीर, बुद्ध, कबीर आदि।

मैं कह ही चुका हूँ कि तपस्या साधना है यह काम पर कंट्रोल संयम या बंधन सिखाती है उसमें दमन कैसा? दमनमें तो क्रूरताका भाव है तपस्या या साधनामें तो सरलता और तरलता है। पर जिसे क्रोध युक्त अनशन और योगयुक्त सल्लेखनाका भेद ही मालूम नहीं उससे क्या कहा जाये? साधनासे इन्द्रियों पर स्वामित्व प्राप्त होता है ब्रह्मचर्यका तेज निखरता है, ज्ञानकी गरिमा, जिज्ञासा मोक्षके तत्वको जाननेके लिए अन्वेषी बनती है पर आज विद्याके नाम पर कुविद्याका प्रचार, आधुनिकताके नाम पर फेशनकी बोलबाला हमारे नवयुवकोंको कमजोर, तेजहीन, बलहीन-बुद्धिहीन बना रही है। कैसा विचित्र है कि विश्वविद्यालयोंमें यौनशास्त्र पढ़नेका पढ़ानेका प्रस्ताव आता है पर योग या ब्रह्मचर्यके शिक्षणका कभी विचार ही नहीं पनपता।

जीवनका एक छोर काम है तो दूसरा छोर मोक्ष है। मैं तो कहूँ कि काम भटकी है और मोक्ष आत्माकी ऊंचाई है जिसे छूनेका निरंतर प्रयास ही ऊर्ध्वगमन है। इस ऊंचाईको पानेके लिए निरंतर साधनाकी आवश्यकता है। यहां इतना स्पष्ट कर दूं कि भारतीय धर्मोंमें तपस्याको पलायन नहीं माना, अपितु आत्माकी प्रसन्नताके लिए किया गया स्वयंभू प्रयास है। मेरे यहां वेदोंमें चार आश्रमोंकी व्यवस्थाको देखिए। दूसरी अवस्था गृहस्थाश्रममें भी अमर्यादित कामको स्वपत्नीव्रत या एक पत्नीव्रतमें आवद्ध कर उसे स्वस्थ रूप प्रदान किया है। गृहस्थ आश्रममें कामकी तृप्ति मात्र नहीं होती पर पूर्ति होती है। उस अवस्थामें भी दृष्टि तो वानप्रस्थकी ओर ही रहती है। कितनी भव्य कल्पना। पति-पत्नी साथ रहकर भी ब्रह्मचर्यसे रहकर ईश्वराधनामें तन्मय रहते हैं। और सन्यास आश्रममें ईश्वरोन्मुख वनकर मोक्षके पथिक वनते हैं। गृहस्थ, संसारिक भोगोंको हँसते हुए प्रसन्नतासे वैसे ही त्याग देता है जैसे किसीको अमानत सौंप रहा हो। देखिए गौतमबुद्धको कौनसे सुख नहीं थे। उनके पिताने विलासके समस्त साधनोंके बीच उन्हें सुखी देखना चाहा, पर विलासके वे सभी उपकरण रेतके महलसे उसी क्षण ढल गये जब संसारके दुखोंको दूर करनेके भाव और मुक्तिकी कामनाके अंकुर उनके अन्तरमें फूट पड़े। उनमें एक नया सूर्य जन्मा-एक नया तेज पैदा हुआ और अनन्त पथका पथिक निकल पड़ा उस सुखको ढूँढ़ने जो चिरंतन था। ऐसे पथिकको कामगोत्रजा देवांगनाएँ भी विचलित न कर सकीं। उल्टे वारांगनाएँ ही साधना पथकी ओर मुखरित हुई।

तीर्थंकरोंको किन सुखोंकी कमी थी? सभी राजपुत्र वैभव सम्पन्न थे। यौवनकी देहरी पर खड़े वे एक ओर भोगकी झिलमिलाहट देख रहे थे तो दूसरी ओर योगकी ज्योति जगमगा रही थी। उन्होंने अपनाई योगकी ज्योति। भोगकी ज्वालामें जलनेके स्थान पर योगकी प्रकाशमयी ज्योतिको अपनेमें सँजोया। वे स्वयं तो प्रकाशित हुए विश्वको भी एक

ज्योति प्रदान की । वर्षोंकी साधना और तपस्या द्वारा उन्होंने काम-क्रोध जैसे अवरोधोंको गला दिया । पर चेहरेकी प्रसन्नता और भी भव्य हो गई । वे केवली भगवान कामजयी बनकर मोक्षगामी बने ।

जो कमजोर हैं वे अपने समर्थनमें यह तर्क दिया करते हैं कि कामके सामने शंकर भी झुक गये, विश्वामित्रकी समाधि खंडित हो गई । अहिल्याके रूपने चन्द्र और इन्द्रको कामांध बना दिया । फिर अपनी क्या बिसात । ऐसे लोग उन दिव्य आत्माओंको भूल ही जाते हैं कि जिन्होंने कामजयी बनकर मोक्षको प्राप्त किया...जो तीर्थंकर बने । उस शिवको भूल जाते हैं जिसने कामको भस्म भी किया था । राम पर शूर्पणखाका जोर नहीं चला था । और सीताके सतीत्वके सामने रावण फन पटक कर रह गया था । सेठ सुदर्शनके कामजयी होने पर सूली भी सिंहासन बन गई थी । ऐसे कामके मस्तकको कुचल कर मोक्षगामी जीवोंके उदाहरणोंसे ग्रंथ भरे पड़े हैं ।

मेरा धर्म यही कहता है कि भाई ! सर्वप्रथम तो तू अपने इस पवित्र मनमें इस कामको जन्मने ही मत दे और यदि उसका अंकुर फूट ही गया तो उस पर साधना और संयमसे विजय प्राप्त कर । सच तो यह है कि तब मैं कामका दास नहीं बनता पर काम मेरा दास बन जाता है । मैं जितेन्द्रिय बनता हूँ...फिर पलायन कहाँ है ?

मैंने आपसे प्रारंभमें कहा कि मोक्षसे पूर्व कामको ही जीतना है । धर्म एवं अर्थ पर मैं प्रभुत्व पा गया । पर 'काम' जीतना बड़ा कठिन है । मुझे संसारके भोगोंका आकर्षण है और मोक्ष भी चाहिए । तो भाई ! दोनों एक साथ संभव नहीं ? क्योंकि ऐसी दुविधामें जीने वाला मैं 'न खुदा ही पा सकता हूं और न विशाले सनमको ही पा सकता हूं ।' सचमुच यही काम तो वह बाधा है जो मोक्षसे वंचित रखता है । आप लोगोंने प्राचीन और प्रसिद्ध मंदिरोंके गर्भद्वारसे बाहर अनेक काम-

ईश्वरोन्मुख होकर, गर्मी-शरदी एवं वरसात के क्लेषको सहन करना सीखता है। इस प्रकार बाह्य रूपसे, वह जीभकी तृष्णाको रोककर, संसारकी भीड़से दूर बाधाओंमें भी आत्मध्यान करता है। भोजनकी ललच कामोत्तेजक पदार्थोंके सेवनका त्याग उसकी इन्द्रियोंमें ऋजुता लाती हैं। मन ध्यानाराधनामें लगता है। गीतामें भी कहा है-" जिसका आहार-विहार, जिसके उद्योग या श्रमकार्य और जिसका सोना-जागना नियमित या सप्रमाण होता है उसे दुखविनाशक योग प्राप्त होता है।"

मात्र बाह्य रूपसे भोजन पर संयम ही सर्वस्व नहीं माना है यह बाह्य तप अन्तरको ऊर्ध्वगतिकी ओर ले जाने में सहायक बनता है अंतरंग तप में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति (सेवा वृत्ति), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानको माना है। देखिये जब बाह्य तपस्या से मन स्थिर होने लगेगा तब आदमी व्रतों आदिमें होने वाले प्रमाद न छिपायेगा वह प्रायश्चित्त करके प्रसन्न होगा। ज्ञानी-तपस्वीओंके प्रति एवं प्राणी मात्रके प्रति विनयवंत बनेगा। उसके मन में साधू एवं दुखीजनोंके प्रति सेवाभाव जन्मेगा—उसे वह करके प्रसन्न बनेगा। उसका 'अहं'—जो पतनका सर्वाधिक भयंकर कारण है—छूटने लगेगा। ममता—जो माया है—व्यक्तिको छोड़ती ही नहीं—उसे वह प्रसन्नता से छोड़ सकेगा। और उसके बाद वह ध्यानमें लीन बनेगा। भाई ! जिसने इन प्राथमिक या ध्यानसे पूर्वकी ग्यारह सीढ़ियाँ समता-प्रसन्नता से चढली हैं फिर उनके लिए यह तप क्या दमन होगा। क्या क्लेश देने वाला बनेगा ?

जैनदर्शन आभ्यांतर तपको ही महत्त्व देता है। बाह्य तप शरीरको आभ्यांतर तपके लिए पूर्वभूमिका रूपमें तैयार करते हैं। यों कहें कि मूर्तिस्थापनसे पूर्व गर्भालयकी शुद्धि करते हैं। जैसा कि मैंने पहले ही उल्लेख किया है कि यह तप सम्यक्त्व भाव सहित, लोकेषणासे रहित होना चाहिये। सम्यक्त्व रहित तप, कायक्लेश, उपवास आदि सभी निरर्थक माने हैं। ऐसा तप अवश्य दमन कहलायेगा। मात्र बाह्य क्रियाकांड

जन्मसे ही काट दें। जहाँ यह तपस्या आत्मकल्याणके लिये है वहीं ज्योति है-प्रकाशका पुंज है। काम-कषाय रूपी अंधकारको नष्ट करनेवाली है। और जहाँ लालच है—स्वार्थ है...वहीं यह तपस्या अग्नि है जो जलाने वाली...उद्वेलित करने वाली है।

मैं समझता हूँ मैं दमन और शमनके भेदको स्पष्ट कर सका हूँ। हमें इच्छाओंका जबरदस्ती दमन नहीं करना है क्योंकि ऐसी दमित इच्छायें कभी भी उभर सकती हैं। इसलिए हमारी यात्रा दमनसे शमनकी ओर हो। तपस्या हमें तेज दे। भगवान महावीर बारह वर्षकी तपस्याके पश्चात् नया तेज-नया ज्ञान और नई ज्योति ही लेकर लौटे थे। ऐसी तपस्याका सूर्य ही विश्वशांति प्रदान कर सकता है।

लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियोंसे हम शमनकी वृत्ति अपनायें...दमनसे बचें।

हमारी यात्रा दमनसे शमनकी ओर होगी तभी सच्चा सुख-प्रसन्नता, उदारता एवं करुणाके गुण प्राप्त होंगे।

इस वास्तविक ज्ञान किरणसे निरंतन अपने सही स्वरूपको जाननेके लिए, आत्माके सुप्त ज्ञानको जगानेके लिए मुझे बाह्यसे अन्तरकी ओर अग्रसर होना पड़ेगा। जो मैं देख रहा हूँ—वह सत्य नहीं लेकिन जिसे मैं अनुभव करूँगा वही सत्य होगा। अनुभवकी इसी आंखको महत्त्व देते हुए ज्ञानी इसे ही चैतन्यस्वरूप कहते हैं। यही चैतन्यस्वरूप आत्मा तो मेरा मूल स्वरूप है। यही जानकर तो मैं ज्ञानकी किरणको पा गया, प्रकाश पा गया। लेकिन इसे पानेके लिए मैं क्या करूँ? मनकी चंचलताको कैसे बाँधू? देखिए मेरा स्वभाव कितना चंचल है—मैं पढ़ने बैठता हूँ तो मेरा मन क्या किताबमें रहता है? अनेक अन्य विचारोंसे मैं त्रस्त हो उठता हूँ। मूर्ति के सामने आंखें बंद करके खड़ा होता हूँ तो मूर्ति के सिवाय अन्य ही बातें तैरने लगती हैं। इसका मूल कारण है—कि मैं अपने ध्यानको केन्द्रित ही नहीं कर सका। परिणाम! परिणाम स्वरूप मैं अंधेरेमें ही भटकता रहा।

यहाँ मेरा ध्यानसे तात्पर्य न तो धूनी रमानेसे है, न आंखें बंद करके माला फेरनेसे है...ये सब तो साधन हैं...साध्य है चित्तकी एकाग्रता। एकाग्रता अर्थात् बाह्य ऊर्जाको अंदर मोड़ना, अंतरमें केन्द्रित करना। देखिए इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण जैन पद्मासन मूर्तियाँ हैं। एक जगह वर्णन है कि हे प्रभु तुम "दृष्टि नासा पर धारण किए हो।" आप भी दृष्टिको नासा पर रखकर जब बैठेंगे तब...तब आपके मस्तकमें दर्द उत्पन्न होगा। जिस दिन इस साधनाको करते करते आपका दर्द बंद हो जाये या कहिए आप दर्द पर काबू प्राप्त कर लें उस दिन आप अपने अंदर एक शक्तिका, एक आह्लादका अनुभव करेंगे। आपमें एक ऊर्जा चक्राकारमें फैलेगी। यह Electrical Circulation आपमें घूमने लगेगा। अर्थात् दृष्टि नासा पर केन्द्रित होते ही मेरी ऊर्जा केन्द्रित हुई। इस अन्तर्मुखी क्रियाके होते ही मैं एक प्रतिमाको देखता हूँ...जो होती है मेरी...आत्माकी पवित्रता की...मेरे आत्मस्वरूप भगवानकी प्रतिमा। यही भगवान स्वरूप ही मेरा शुद्ध स्वरूप है।

जैसा कि मैं पहले आपसे कह चुका हूँ
ंचालित हूँ...अतः अपनी आवाज स्वयं सुनता
सकते हैं कि यह आवाज सबको सुनाई क्यों
उत्तर देनेसे पूर्व मैं कहूँगा कि हमें विज्ञानने तर्क
और धर्म श्रद्धाकी वस्तु है तर्ककी नहीं । हाँ !
अर्थात् जिज्ञासाकी भावना है...और हृदय अर्थ
तभी हम धर्मको समझ सकेंगे । पर कुतर्कसे य
मैंने श्रद्धासे एकाग्रतासे ध्यान किया, मुझमें
हुआ...नया रूप जन्मा जो मेरा संन्यासी रूप
भी वासनाके रोड़े आये । पर क्या इन मार्गके
जिस दिन मैं इनको कुचलनेकी शक्ति पैदा कर
मेरी ऊर्ध्वगतिकी सीढ़ियाँ बन जायेंगे । स्वतंत्र

जिस दिन मैं पंचेन्द्रिय के वशीभूत हो
ये इन्द्रियाँ मुझे उकसाती रहीं...मुझे पतनके
स्थिति तो ठीक उस वैज्ञानिक अनुसंधानकी भाँ
एनर्जीका आविष्कार किया था । उसने सोचा था कि
नये सुख मिलेंगे । पर, बुद्धिवादी इस मानवने
किया और परिणाम स्वरूप आज वह अपने ही
उसीका निर्माण उसे डरा रहा है । यही स्थिति
पर प्रभुत्व रखता था तब जितेन्द्रिय था, पर
इन्हींसे डर रहा हूँ । तो भाई ! मुझे तो अपने

जान सका। सुखको प्राप्त कर सका। सुख क्या है ? यह प्रश्न मेरे मन में भटकता है...एक लहर सी किनारे पर टकरा-टकरा कर लौट जाती है। देखिए! कभी मुझे कोई वाह्य दुख या व्याधि होती है...मिट जाती है तब मैं सुखका अनुभव करता हूँ। भोजन करते समय मैं तृप्त हो गया ऐसा कहता हूँ और अनुभव करता हूँ, पर कुछ घंटों के पश्चात पुनः भूखकी व्याकुलता उभरती है। तब मेरे मन में एक आशंका उभरती है क्या दुखोंको कुछ क्षणके लिए भूलना सुख है ? जहाँ शाश्वत आनंदका अनुभव हो वही सच्चा सुख है अन्य तो मात्र सुखाभास है।

कुछ लोग पूछते हैं कि परमात्माको देखा है ? तो मैं यही कहूँगा कि यह अनुभवकी बात है। और यो कहूँ कि जिसका स्वप्न नष्ट हो गया, सत्यको समझ लिया और जो अपनेको पालेनेकी क्रिया में रत हो गया वही परमात्माके निकट है। इसके लिए धार्मिक ज्ञान आवश्यक है। विज्ञानके ज्ञानने आदमीको कुतर्क एवं अहंकार दिया जब कि धार्मिक ज्ञानने उसे संस्कार, नम्रता, मानवता और ओज दिया। विश्वके विकास में और मानवताके विकासमें धर्म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग रहा। धार्मिक ज्ञानके कारण हमारे अंतरमें निरंतर नए ज्ञानकी जिज्ञासा आत्माकी ओर अग्रसर होने की भावना बढ़ती है। हम अन्तर खोज की ओर लग जाते हैं।

मेरी आज तक की अवस्था जुआरीकी तरह रही। मैंने लोभ में अपना सब कुछ लगा दिया और अंतिम मूड़ी यह मानव जीवन है उसे भी लगानेकी सोच रहा हूँ। इसे मैं दाव पर लगा चुका हूँ। इसके परिणाम ? परिणाम हैं अनंत लाख चौरासीमें भटकना। चार गतियोंमें भटकना, जन्म-मरणके दुखोंको झेलना। इस बार इस मनुष्य जन्म, श्रावक कुल, उत्तम धर्मको पाकर भी इसे खो देनेकी गफलत मेरा दुस्साहस नहीं तो और क्या है ? यह मेरे विवेककी कमी है।

मैं देखता हूँ एक पहरा है जो सतत लगा हुआ है–वह है अज्ञान, वासना और संसारका। इसे दूर करनेके लिए आवश्यकता है एक गुरुकी

जो विवेकके साथ आत्माको पहचानने में मदद करे। गुरु सच्चा ज्ञान दाता है और यही ज्ञान आत्माका भोजन है। जब यह भोजन मेरे स्वरूपको मिलता है—मैं अर्थात् मेरी आत्मा निर्मल बनी है-यही निर्मलता तो उसका मूल स्वरूप है। लौकिक दृष्टिसे भी देखिए मैं जिसे प्यार करता हूँ...जिसे चाहता हूँ वह अलौकिक लगता है। मजनूका उदाहरण देखिए...एकबार खुदाने मजनूसे कहा-मजनू तुम इस कुरूप लैलाके पीछे पागल क्यों हो? चलो मैं जन्नतकी परीयाँ तुम्हें दे सकता हूँ। तब मजनूने कहा...खुदा! काश! तुमने मजनूकी नजरसे लैलाको देखा होता। अर्थात् दृष्टिकी अलौकिकता ही प्रधान है।

जब मैं लौकिक प्रेममें इतना तन्मय हूँ यदि ऐसा ही प्यार अपनी आत्मासे करने लगूँ तो कितना भव्य बन जाऊँगा। कबीरकी भाषामें कहूँ तो जब मेरी कुंडलिनी जागृत होकर सहस्त्रदल कमलसे ऊपर उठ जायेगी तब मैं एक अनहदनाद सुनूँगा। यह नाद कौन सुन सकता है? मैं या आप? नहीं जिन्होंने कबीर सी साधना की है। इस प्राप्तिके लिए कुछ करना होगा। प्राप्ति और त्याज्यके बीच मेल बैठाना होगा। एक साथ दो नहीं चल सकते। मैं चाहूँ कि मुझे ब्रह्मज्ञान हो, मैं ज्ञान-स्वरूप आत्माका ध्यान धरूँ और बाह्य जगतसे मोह भी रखूँ तो दो काम एक साथ नहीं हो सकते—

पीआ चाहूँ प्रेमरस, राखा चाहूँ मान।
एक म्यानमें दो खड्ग, देखा सुना न कान॥

जहाँ अहम् होगा वहाँ परमात्माके दर्शन नहीं होंगे। जहाँ परमात्माके दर्शन नहीं होंगे वहाँ ज्ञान नहीं होगा-जागृति नहीं होगी, आत्माकी पहचान नहीं होगी। त्यागी या संत तो बहादुर ही हो सकता है। कबीरकी ही भाषामें जो अपना घर फूंक तमाशा देखे। ऐसे कितने निकले? महावीर एक हुए, बुद्ध एक हुए। ऐसे ही लोग विश्व कल्याणके लिए कुछ कर सके और स्वयं शुद्ध-बुद्ध परमात्म प्रकाश बन सके। जब मैं

स्वयं प्रकाशित हो जाता हूँ तभी विश्वको प्रकाश दे सकता हूँ । जैसा मैंने प्रारंभमें आपसे कहा इस ज्ञानके मार्गमें एक रुकावट है—वह है मोह। मोह अर्थात् संसार और संसार अर्थात् जिसका निरंतर परिवर्तन होता रहे। तो जो परिवर्तनशील या मिटनेवाली वस्तु है, वह मेरा स्वरूप कैसे हो सकता है ? कहावत है—जैसी दृष्टि वैसी ही सृष्टि । मेरी दृष्टि पवित्र है तो मेरी सृष्टि भी पवित्र होगी ।

लोग कहते हैं अमुक आदमी मुनि हो गया, साधु हो गया। संन्यासी हो गया। इन शब्दोंके अर्थ शब्दकोपमें अनेक मिल जायेंगे। पर कभी-कभी दुविधा पैदा होती है कि जो लोग इन नामोंको लेकर चल रहे हैं उन्होंने इन नामोंको समझा है ? बाह्य दिखावेके लिए चाहे जटाजूट बढा लें, चाहे सफेद वस्त्र पहन लें, चाहे नग्नत्व स्वीकार कर लें पर जब तक अंदरकी कषाय, वासना या इच्छा दूर नहीं हुई जब तक वह अन्तर्मुखी नहीं बना तब तक वह स्वांग है रूप नहीं। देखिए गृहस्थ और साधुकी व्याख्या हम यों कर सकते हैं-जो शाश्वत आनंदकी ओर अग्रसर हो रहा है वही साधु है और जो क्षणिक सुखके लिए भटक रहा है वही गृहस्थ है ।

त्यागमें भी एक सुख है...आनंद है...संगीतात्मक गूंज है पर यही त्याग जब दिखावेके लिए होता है वहीं दुविधात्मक परिस्थिति उत्पन्न होती है । कहा भी है -न खुदा ही मिला न विशाले सनम-न इधरके रहे न उधरके रहे ।" आचार्य कहते हैं कि चेतनाके दीपकमें ज्ञानका तपस्याका तेल भर कर जलाये गये दीपकसे ही आत्माके दर्शन हो सकते हैं । जब मैं निद्रामें भी जागृतिका अनुभव करूँगा अर्थात् स्वप्नमय मायावी संसारमें भी चेतनाका अनुभव करूँगा तभी आत्मदर्शन कर सकूँगा।

एक संत हैं श्री सहजानंदजी वर्णी । अपने एक पदमें आत्माका वर्णन करते हुए कहते हैं-"हूँ स्वतंत्र-निश्चल-निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतमराम।" इन्हीं शब्दोंको मैं जान लूँ तो अपने स्वरूपको सरलतासे

समझ सकूंगा । मैं स्वतंत्र हूँ । किससे स्वतंत्र हूँ । और परतंत्र किससे हूँ ? मैं जिससे परतंत्र हूँ यदि उससे निकल जाऊँ, मुक्त हो जाऊँ तो मैं स्वतंत्र हूँ । तो मैं परतंत्र हूँ देहके साथ, चाहनाके साथ जो मुझे भटकाती है । इसीसे स्वतंत्र हो जाऊँ । स्वतंत्रता मेरा मूल स्वभाव है अतः प्रिय है । *दूसरा लक्षण है निश्चलता अर्थात् अडिगता।* मुझे कौन डिगा सकता है ? जब तक संसार और वासना-कषायके सामने नहीं झुका तब तक मैं अडिग हूँ । इसी अडिगताके कारण मैंने जो चाहा वह प्राप्त किया । हम कहते हैं कि अमुक साधुको कोई प्रलोभन नहीं डिगा सका अर्थात् उनके निश्चल स्वभावमें कोई विकार नहीं आया । आगे शब्द है निष्काम । कितना बड़ा लक्षण ! मैं जो भी करूँ उसमें अंशमात्र भी काम या स्वार्थका जरा भी पुट होगा तो मेरी भक्ति निष्काम नहीं हो सकेगी । मूलतः देखा जाये तो मेरे स्वरूपमें किसीकी लालच नहीं किसीकी कामना नहीं । लोग मंदिरमें जाते हैं । पूछो उनसे तो लगभग ९० % लोग धन, पुत्र या किसी न किसी इच्छाको लेकर ही जाते हैं । चोर और साहूकार सभी । यह भक्ति सकाम है अतः आत्मस्वरूपको विकारमय बनाती है । यद्यपि एक इच्छा मेरी भी है-वह है कि मैं स्वयं ज्ञानवान बनूँ...स्वयं प्रकाशित बनूं, ब्रह्ममें लीन होना चाहूँ । मैंने आपसे पहले कहा कि जब मैं आत्माको पहचान लेता हूँ...तब परमात्माकी निकटताका अनुभव करता हूँ । इसे ही जैनधर्ममें *मोक्षकी निकटता कहा है मोक्ष अर्थात् जन्म-मरण एवं संसारके आवागमन* से मुक्तिकी कामना मेरी हो ।

मैं स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हूँ । मैं सब कुछ जानता हूँ पर अनजान बना हूँ । इसका कारण है कि मेरे अंतरंग और बहिरंग के बीच संसार और मायाकी दीवार है जो मेरे ज्ञाता स्वभावको नष्ट करती है । पर अब मैं सत्य जान गया हूँ । दृष्टा हूँ...दृष्टा अर्थात् जिसे दृष्टि हो । दृष्टि अर्थात् आंख । पर मेरा अर्थ बाह्य चर्म चक्षुसे नहीं है । जब मैं

बाह्य दृष्टिसे देखता हूँ तो यही स्वप्नमय जगत दिखाई देता है। पर जब मैं अन्तर् दृष्टिसे देखता हूँ कि आत्माके अनंत प्रकाशको देखता हूँ...जहाँ कलमपता नहीं...राग-द्वेष नहीं... सुख-दुःखकी भावना नहीं। देखिए पाप और पुण्य दोनों बंधके कारण हैं। और जब मैं बंधसे मुक्त होना चाहता हूँ तो मुझे इनसे भी ऊपर उठना होगा।

मोक्षके सन्निकट पहुँचे आचार्योंने कहा है कि मैं वह हूँ जो भगवान हैं और जो भगवान हैं वही मैं हूँ। इस कथनमें कितना तादात्म्य बोध है। तादात्म्यबोधकी चर्चा मैं कर चुका हूँ। यहाँ इतना ही कहना है कि जब मेरा आत्मस्वरूपसे सामंजस्य हो गया, जहाँ कलुपता धुल गई वहीं मैं भगवानके निकट पहुँच गया। यही 'तत्वमसि'की अवस्था है। जो तुम हो प्रभु...वही मैं हूँ। यह कौन कहता है...एक अंतरकी आवाज है। कौनसे अंतरकी? जिसने साधना की है...संयम धारण किया है। ज्ञानदीपसे आत्माको परखा है। फिर भेद कहाँ आ गया? अंतर क्यों पड़ा? तो पता चला कि यहाँ राग है वहाँ विराग है। जहाँ मोह है वहीं बंध है। धर्ममें सात तत्त्वोंकी चर्चा है उसमें आस्रव, संवर और निर्जरा तीन तत्त्व हैं। जहाँ राग है वहाँ मैं अनेक जगहसे टूटा हुआ हूँ। मेरा स्वरूप ऐसे पात्रसे है जिसमें अनेक छिद्र हैं। जैसे ऐसा छिद्रयुक्त वर्तन जब जलमें डूबता है तो लगता है कि जल भर गया पर बाहर आते ही सारा जल निकल जाता है। इसी प्रकार विषय-वासना के छिद्रोंसे मेरा ज्ञान-जल निकल जाता है। तब मैं क्या करूँ? तो आचार्य कहते हैं कि आस्रवके कारण छिद्रोंमेंसे जो पाप आ रहे हैं उनके लिए मुझे छिद्रोंको बंद करना है तभी संवर होगा। जब संवर होगा तब मैं अपनेमें जल रोक सकूँगा। तप करूँगा, साधना करूँगा और कर्मोंकी निर्जरा करूँगा। जब निर्जरा हो जायेगी तभी मुझमें अंतिम तत्त्व मोक्षकी ओर प्रयाण करनेकी शक्ति प्राप्त होगी।

हम सुनते हैं...अमुक सिद्ध पुरुष हैं। जैनधर्ममें पंचपरमेष्ठीमें दूसरा स्थान सिद्ध है। सिद्ध अर्थात् जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली। मैं

प्रश्न करता हूँ सिद्धि क्या है? अधिक व्याख्या क्या करूँ? वस इतना ही कह सकता हूँ कि जिसने अपने स्वरूप को जान लिया वही सिद्ध है–मोक्षगामी जीव है। जिसे यह सिद्धि मिलती है उसमें अमित शक्तिका संचार होता है। वह अनंत शक्तिका, ज्ञानका भंडार हो जाता है।

देखिए, ज्ञान मुझे है और हुआ पर मैं सिद्ध नहीं वन पा रहा हूँ क्योंकि मुझमें आशा और प्राप्ति के भाव हैं...उन्हींमें मैं खोया हूँ। अतः मैं भिखारी हूँ। वैसे लौकिक दृष्टिसे मेरे पास वंगला–कोठी है, धन–धान्य है। फिर भी भिखारी! एक दृष्टांत है—एक तपस्वी तपस्या कर रहे थे। एक दिन एक राजा वहांसे गुजरे। उन्होंने अपनी दृष्टि और वुद्धिसे सोचा कि शायद ये धनके लिये तपस्या कर रहे हैं। राजा ने कहा—महात्मा चलो मैं तुम्हें सव कुछ दूँगा। महात्मा तो दृष्टा थे। वे जान गये कि राजा में अहम् या अज्ञान है। उसे *Practically* ही दूर किया जा सकेगा। वे साथ में गये। सुवह देखते हैं कि राजा मंदिर में घुटने टेककर भगवान से कुछ मांग रहा है। साधुने कहा—राजन्! जव तुम्हीं मांगते हो तो दे क्या सकते हो? आदमी–आदमी को क्या दे सकता है? देने वाला तो ईश्वर है। तव पुनः प्रश्न हुआ कि मैं क्या मांगू? जहां मैं संसार की दौलत या सुख माँगता हूँ—वहीं मेरा पतन हो गया। मैं गर्त में गिरा और फिर मांगते वक्त मेरा हाथ नीचे होगा... मुझमें हीन भाव होगा। मैं दे भी क्या सकता हूं? देते वक्त भी मेरा मन अहम् से भर जाता है। सच कहूँ तो मैंने सारा ज्ञान इसी लेन–देन में खो दिया। भाई! जव तक भेदविज्ञान के आधार पर निज और परके भेदको नहीं मानूँगा तव तक दुःखी रहूँगा। जव यह जान लूँगा तव दुःखका लेश मात्र भी नहीं रहेगा।

त्यागने की वातें हम सव करते हैं। फलाँ ने फलाँ चीज छोड़ दी। उसने घर छोड़ दिया, जूते पहनना छोड़ दिए आदि छोड़नेमें मैं त्याग देखता हूँ...पर मैं वह छोड़ना चाहता हूँ जो सर्वथा कठिन है...वह है राग या प्रेम। देखिए! मैं किसी से लड़ता हूँ...क्रोध करता हूँ पर यह

सब क्षणिक होता है । पर मैं जिससे प्रेम करता हूँ उसे छोड़ना कितना कठिन है । जैनधर्म तो इस राग को छोड़ने की सलाह देता है । तभी तो उसके तीर्थंकर वीतरागी बन सके । जब मैं चाहता हूँ कि मैं सच्चिदानंद स्वरूपी बनूं इसका मतलब ही है कि मैं राग को त्याग दूँ । जब मैं इस लौकिक प्रेम और राग को त्याग दूँगा तब मैं आकुलता से दूर हो जाऊँगा । घूम फिरकर मैं फिर वहीं आ गया कि यह आकुलता और तृष्णा ही मुझे भटका रही हैं । जब ये दूर होंगी तब मुझे ब्रह्मज्ञान होगा...मेरा अहम् तिरोहित हो जायेगा । अभी तक मैं यही मानता हूँ मैं कर्ता हूँ...मैंने यह किया-वह किया । पर कोई कुछ नहीं करता । यह सब तो मेरे परिकृत या विकृत परिणाम हैं । इन्हें हटाकर मुझे सहजानंद बनना है...क्योंकि मेरा मूल स्वरूप तो सहजानंदी है । सहजानंद अर्थात जिसे अपने स्वरूप में सहज आनंद का अनुभव हो गया । इस स्वरूप की पहचान के लिए मुझे गुरु चाहिए...कैसे गुरु ? "चक्षुरुन्मीलनम् येन तस्मै श्रीगुरवे नमः । जो मेरी आंखों को खोलें । कौन-सी आँखें...तो इसकी चर्चा मैं आप से कर चुका हूँ । मैं स्वविहारी हूँ या बनूं । यानी मैं अपने आपमें रमण करूँ...अपने में खो जाऊँ । यहां प्रतीक रूप में नशेबाज को प्रस्तुत करूँगा । जैसे नशेबाज व्यक्ति किसी एक ही धुनमें धुनता है वैसे ही मैं आत्माकी धुनमें मस्त हो जाऊँ...खो जाऊँ । सिर्फ मैं अपने को ही देखूँ...और भाई ! सबमें कठिन तो यही है । कोई किसी को क्या सुधार सकता है ? क्या छुड़ा सकता है ? मुझे ही अपना सुधार करना है...अपने आपको सुधारना है । पर मैंने इसका प्रयास ही नहीं किया । मैं तो संबंध और बंध के कारण [illegible] भटकता रहा और अपना ही अहित करता रहा ।

अब मुझे ज्ञात हो गया है कि मैं ज्ञानमूर्ति हूँ, सनातन हूँ, [illegible] हूँ, [illegible] ज्ञानानन्दस्वभावी मैं जान गया हूँ । [illegible] के [illegible] का सही रूप है उसे मैं [illegible] क्यों न करूँ ?

स्याद्वाद संशयका नहीं ....निश्चयका प्रतीक

भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शन की विशिष्टता है उसका मौलिक प्रदान अनेकान्त दर्शन । इस दर्शनको प्रस्तुत करने की शैलीका नाम ही स्याद्वाद है । एक ओर जहाँ अनेकान्त मन के द्वन्द्वों का परिमार्जन करता है वहीं वचनकी स्पष्टता, निर्द्वन्द्वता इस स्याद्वाद पूर्ण भाषा से प्रकट होती है । इससे पूर्वकी विषय पर गहराई से विचार करें—पहले इस स्याद्वाद के शाब्दिक एवं निहितभाव के अर्थको समझ लें । 'स्याद्वाद' में 'स्यात' एवं 'वाद' दो पदों का संयोजन है । जैन वाङ्मय में इस 'स्यात' का अर्थ 'कथंचित्' अर्थात् एक निश्चित अपेक्षा माना है और 'वाद' कथन का द्योतक है । इस तरह यों कहा जा सकता है कि एक निश्चित अपेक्षा से किया गया कथन ही स्याद्वाद है । थोड़ा सा और गहरे उतरें तो निश्चित अपेक्षामें एक निश्चित दृष्टिकोण या निश्चित विचारों का बोध निहित है । जो यह संकेत देता है कि वस्तु के जिस अंश के बारे में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा रहा है वह उस अंश का पूर्ण [illegible] है । पर साथ ही यह भी दिशानिर्देश होता है कि कथित अंश के [illegible] अन्य [illegible] अंश में अन्य गुण भी है । युगपुरुष हेमचन्द्राचार्यने '[illegible]' ग्रंथमें स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'स्यात' [illegible] 'अमुक अपेक्षा से', या अमुक दृष्टिकोणसे । स्यात् यहाँ अव्यय [illegible] है । अर्थात अनेकांत रूप से कथन शैली ही [illegible] है । इसका दूसरा नाम अनेकांत है । अनेक एवं अन्त [illegible] । यहाँ अन्त का अर्थ धर्म, दृष्टि, दिशा अपेक्षा किया [illegible] यों भी यह कहा जा सकता है कि वस्तु [illegible] रूप से रह रहे हैं उसमें अन्य गुण या [illegible] । इससे यह [illegible] सिद्ध होता है कि [illegible] विद्यमान है एक अंश में सभी धर्म या

स्वभाव पूर्ण हैं यह कथन असंभव है और ऐसा कथन अपूर्ण होगा। वस्तु एक ही निश्चित स्वभावी या निश्चित गुण धर्म स्वभावी है यह कथन ही एकांत दृष्टि युक्त है जो अन्य गुणों की उपस्थिति का अस्वीकार या तिरस्कार है जो संघर्षों का जनक है। इसी वैचारिक या मानसिक संघर्ष को टालने के लिये वस्तु के अनेक स्वरूपी रूप को स्वीकार करते हुए उसे वाणी की शुद्धता भी जैनदर्शन ने प्रदान की।

जैनदर्शन के इस 'स्यात्' में मात्र स्यात् नहीं अपितु 'स्यादस्ति' का प्रयोग किया है। देखिए स्यात् के साथ संलग्न अस्ति एक स्वीकृति है। अर्थात् अपेक्षित है। सर्व प्रथम 'अस्ति' यानी हकारात्मक या विधेयात्मक दृष्टि को ही स्वीकार किया है। किसी वस्तु में निहित तथ्य या लक्षण का 'नास्ति' या मात्र स्यात् 'शायद' की अनिश्चितता में प्रयुक्त नहीं किया। इससे इतना तो तय हो ही जाता है कि कथित तथ्य के 'अस्ति' बोध का स्वीकार है। इस अस्ति में स्वीकृत वस्तु के स्वभाव या गुणधर्मका स्वीकार करते हुए भी हम यह नहीं कहते कि 'यह ही है'। हम कहते हैं यह भी है अर्थात् अन्य गुण या धर्म भी हैं। तात्पर्य कि हम जिसका कथन कर रहे हैं उसके उपरांत के गुणों का हम निषेध नहीं कर रहे। अपने विचारों की स्थापना जैसा कि हम वस्तु के स्वरूप को वर्तमान में निहार रहे हैं—करते हुए उसके प्रति अन्य दृष्टिकोणों का निषेध नहीं करते। परिणाम स्वरूप अपने कथन के साथ अन्य के कथन में विरोधी नहीं बनते और वैचारिक संघर्ष नहीं करते। वाणी में कटुता नहीं लाते और वैचारिक आक्रमण से बचते हुए सूक्ष्महिंसा से भी बच जाते हैं। इस प्रकार यह 'स्यात्' वस्तु के कथित धर्मों के साथ अन्य स्थित धर्मों का रक्षक बन जाता है। जिस समय जिस वस्तु को जिस परिस्थिति और संदर्भ में देखते हैं उस समय तथाकथित गुण मु[illegible]

अन्य गुण नष्ट नहीं हो जाते । यदि अन्य व्यक्ति अन्य गुणों की अपेक्षा वस्तु का कथन करे तो उसे असत्यभाषी कैसे कहा जा सकेगा । उदाहरणार्थ एक व्यक्ति पत्नी की अपेक्षा से पति है, उसी समय वह मां की अपेक्षा से पुत्र भी है । यहाँ व्यक्ति को परखने का दृष्टिकोण है । इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु, विचार आदि को समझना चाहिये । इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि 'स्याद्वाद' सोचने की चिंतन की विशाल भूमि का प्रदान करता है । हम जिस समय जो सोचते हैं वह उतने में पूर्ण निश्चय है-संशय नहीं । सच तो यह है कि वस्तु या विचार गत 'यही है', या 'इसके अलावा कोई सत्य नहीं' जैसे एकांगी भाव ही संघर्ष, मतभेद एवं संकीर्णता को जन्म देते हैं । व्यक्ति को अनुदार बनाते हैं -जो अपनी ही बात मनवाने को हिंसात्मक तक हो जाता है । आज के संघर्षों की जड़ इसी एकांगी विचारों का परिणाम है । विद्वानोंने इस 'अस्ति' के माध्यम से परीक्षण कर विविध दृष्टियों से सत्य को समझने का प्रयास किया । एकाधिकार वाद का दूषण इसी से मिटाना सम्भव है । "स्यात् शब्द एक ऐसी अंजनशलाका है जो उनकी दृष्टि को विकृत नहीं होने देती, वह उसे निर्मल और पूर्ण दर्शी बनाती है ।"

यह जैनधर्म की विशालता ही है कि उसने परस्पर विरोधी मालूम होने वाले धर्मोंको भी सामंजस्य से देखा और परखा । इसीलिए उसे वास्तवबहुत्ववादी कहा गया है । वह प्रत्येक वस्तु या विचार पर सहानुभूति से विचार कर निरर्थक भ्रमजालों को तोड़ता है और विचारोंको तो शुद्ध करता ही है वाणीको भी शुद्ध बनाता है । डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यने ठीक ही लिखा है—"जहाँ अनेकान्तदर्शन चित्तमें माध्यस्थ भाव, वीतरागता और निष्पक्षता का उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता आने का पूरा-पूरा अवसर देता है ।"

भगवान महावीर का समय वह समय था जब उपनिषद्वादी विश्व सत् है या असत्, उभय या अनुभय के अनिश्चिततामें थे...जब महात्मा

बुद्ध विचार वैविध्य से बचने या टालनेके लिये या तो मौन थे या शिष्यों को मौन रहने का उपदेश दे रहे थे-उस समय इन विविध मान्यताओंको विरासतमें लेकर महावीरके पंथ में दीक्षित होनेवालों की जिज्ञासा की पूर्ण तृप्ति आवश्यक थी अन्यथा वैचारिक संघर्ष भविष्य के लिये बड़ा अनिष्टकारी हो जाता । अतः महावीर ने वीतरागता और अहिंसा के उपदेश से बाह्य व्यवहार शुद्धि के साथ चित्त के अहंकार और हिंसा को बढ़ाने वाले सूक्ष्म मत भेदोंको भी निर्मूल किया । उन्होंने वस्तु के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य परिणामी स्वरूप को समझाया और द्रव्य एवं पर्याय की दृष्टि से उसकी नित्यता एवं अनित्यता को स्पष्ट किया । सचमुच इस सापेक्ष दृष्टि ने शिष्यों को निर्द्वन्द्व बनाया । कथन के साथ या उससे भी विशेष वस्तुके परीक्षण पर जोर दिया । अग्नि गरम या ठंडी इस चर्चा को मतभेद का विषय बनाने से क्या यह अच्छा नहीं कि उसको छूकर सही दशा को परखा जाये ?

'स्याद्वाद' यह स्पष्ट करता है कि भाई ! किसी वस्तु का एक ही बार एक ही दृष्टि से पूरा परिचय दे देना असंभव है । यह स्यात् विद्यमान गुण-धर्मों के साथ अविद्यमान गुणों या अविवक्षित गुणों के अस्तित्व का भी द्योतन कराता है । इसीलिए विद्वानोंने इस स्यात् को एक सजगताका प्रतीक भी माना है । 'स्याद्वाद' अनेक विकल्पोंको दूर करता है । श्रीमद् राजचन्द्रनें ठीक ही कहा है—" करोड़ ज्ञानियोंका एक ही विकल्प होता है जब कि एक अज्ञानीके करोड़ विकल्प होते हैं ।"

जो भी लोग एकांतवादी होते हैं वे वस्तुके धर्म वैविध्यको समझे बिना ही अपना विरोध करते हैं । सूक्ष्मतासे देखा जाये तो वस्तु विरोध स्वभावी नहीं है, अपितु विरोध हमारी दृष्टि या समझका है । इसी नासमझीकी औषधि यह 'स्यात्' है । हिन्दू धर्ममें जहां हर वस्तु ईश्वर निर्मित मान ली वहीं एकांकी विचार पनपे । इसी संदर्भमें जाति-पांतिके भेद बढ़े । इतना ही नहीं, ईश्वरको अवतारी माननेके कारण उसके सभी

कृत्य लीला बन गये। वेद ईश्वर कथित माने गये, और उन्हें ही आस्तिकता व आस्तिकताका मानदंड मानकर, उन्हें न माननेवाले लोग या विचारधाराको नास्तिक कहकर तिरस्कारकी दृष्टिसे देखा गया। जिसका शिकार जैन व बौद्धधर्म बने। जाति-पाँतिका वैमनस्य, ईश्वरके प्रति मान्यताओंका विषम ज्वर इसीसे पनपा।

जैनधर्म या सिद्धांतने वस्तुको उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य मानते समय स्थान-काल-द्रव्य-भावके साथ परिणामी माना है। एक ही वस्तु द्रव्यके परिपेक्ष्यमें स्थिर है तो पर्यायके परिपेक्ष्यमें परिवर्तनशील भी है। जैसे सोना द्रव्य है-स्थिर या अविनाशी है...पर अलग-अलग गहनोंमें परिवर्तन उसका विनाश भी है। कुछ लोग यह शंका उठाते हैं कि एक ही साथ एक ही वस्तु स्थाई भी है और अस्थाई भी है यह कैसे संभव है ? पर वे भूल जाते हैं कि इस कथनमें द्वन्द्व या शंका नहीं है पर उसका परीक्षण द्रव्य एवं पर्यायके संदर्भमें होनेसे वह अमिट भी है और परिवर्तनशील भी है। किसी भी पदार्थको यदि एक ही स्वरूपका मान लें तो फिर निरंतर जो क्रम परिवर्तन हैं वे सभी झूठे बन जायेंगे। हम जो परिवर्तनशीलता या वैविध्य देखते हैं उसके मूलमें यही गुण वैविध्य है या पर्याय परिवर्तनकी स्वाभाविक प्रक्रिया है। सच कहें तो संसारकी परिवर्तनशीलता इसी गुणपर्यायके कारण है इसीलिये जैनदर्शनके अनुसार [illegible] कभी गुण नाश नहीं होता। उसमें निरंतर क्षय और निर्माणकी [illegible] चलती रहती है। हां ! द्रव्य परिवर्तन होते रहते हैं। [illegible] इस स्याद्वादकी तहमें हम वस्तुके अनेक धर्मों अंशों पर [illegible] है।

[illegible] इस स्याद्वाद को श्रुतज्ञान का [illegible] माना है। [illegible] है। जो वस्तुके अनेक स्वरूप को प्रगट करता है। [illegible] किया है कि [illegible] [illegible] है।

निर्वेद, निरोध, शांति परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है।"–उन्हें मौन कर दिया, वहीं महावीरने जिज्ञासुओंको मौन रहनेका आदेश नहीं दिया, अपितु उनकी जिज्ञासाको संतुष्ट किया। संजयकी भांति अनिश्चितताका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस संतुष्टिका आधार था सप्तभंगी एवं स्याद्वाद पद्धति। डॉ. सम्पूर्णानंदने इसे (सप्तभंगीन्याय या स्याद्वाद) को बालकी खाल निकालने वाली पद्धति कहा। पर वे भूल गये कि वाद-विवादों, संशय एवं अनिश्चितताके युगमें यह परम आवश्यक पद्धति थी। डॉ. जैनने सच ही लिखा है—"जैनदर्शनने दर्शन शब्दकी काल्पनिक भूमिसे उठकर वस्तु सीमा पर खड़े होकर जगतमें वस्तुस्थितिके आधारसे संवाद, समीकरण और यथार्थ तत्त्वज्ञानकी अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद भाषा दी, जिनकी उपासनासे विश्व अपने वास्तविक स्वरूपको समझ निरर्थक वाद-विवादसे बचकर संवादी बन सकता है।" श्री शंकराचार्यजीने एक ही पदार्थमें 'अस्ति एवं नास्ति' परस्पर विरोधी धर्मका होना असंभव मानकर इस स्याद्वाद कथनको असंगत कथन कहा है। श्री शंकराचार्यजी चूँके एक ही पदार्थमें शीत-उष्ण होनेकी बातका उदाहरण देकर कुछ तर्कों द्वारा सिद्धांतको असंगत कहते हैं; पर वे भूल गये कि अपेक्षा भेद से एक ही पदार्थमें अनेक विरोधी धर्म हो सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति बड़ेकी अपेक्षा कनिष्ट है तो छोटेकी अपेक्षा ज्येष्ठ भी है। अरे! एक ही नरसिंह स्वरूप नर एवं सिंह शरीरके भागकी अपेक्षा क्या सत्य नहीं हैं? तात्पर्य कि हमें सापेक्ष दृष्टिसे देखना होगा। हां यदि एक ही दृष्टिसे 'अस्ति-नास्ति' कथन हो तो अवश्य दोष होगा। जैसे एक व्यक्तिको पति और पुत्र एक ही स्त्रीके संबंधमें कहा जाये तो भारी विडंबना होगी ही। स्वर्ग नरककी दृष्टिसे नास्ति होने पर क्या स्वर्ग मिट गया? शंकराचार्यजीने अपेक्षाभेदसे इस सिद्धांतको समझा होता तो शायद वे स्पष्ट हो सकते थे। श्री प्रो. बलदेव उपाध्यायजी यद्यपि स्यात्‌का शब्दार्थ 'शायद' नहीं करते पर 'सम्भवतः' शब्दको मानकर वे श्री शंकराचार्यजीका

का समर्थन करते हैं। श्री शंकराचार्यजीकी मान्यताको विद्वान भी रुचिगत मानते जा रहे हैं। जो लोग 'स्याद्वाद' में 'स्यात्' का अर्थ 'संभवतः' मानते हैं वे भी अर्धसत्य तक ही अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं। स्याद्वाद तो वस्तुके निश्चित गुण कथन और स्पष्टताका द्योतक है अतः उसमें संशय या संभावना दोनोंकी कल्पना ही अव्यवहारिक है।

वर्तमान युगके विद्वान चिंतक डॉ. राधाकृष्णनने स्याद्वादको अर्ध-सत्य तक पहुँचाने वाला ज्ञान माना है। इससे पूर्ण सत्य नहीं जाना जा सकता। उनके अनुसार स्याद्वाद अर्धसत्य तक पटक देता है। इस अर्धसत्य मान्यताका खंडन करते हुए श्री महेन्द्रकुमारजीने सच ही लिखा है कि राधाकृष्णन इसके हृदय तक नहीं पहुँचे न ही उन्होंने जैनदर्शनके उस सत्यको परखा जो वेदांतकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेद की दिमागी दौड़में शामिल नहीं हुआ। साथ ही जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्त धर्मात्मक है, तब उस वास्तविक नतीजे पर पहुँचनेको अर्ध सत्य कैसे कहते हैं? डॉ. देवराजजीने भी 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' में स्यातका अनुवाद 'कदाचित्' किया जो ठीक नहीं। क्योंकि कदाचित् तो संशय ही उद्भव करेगा।

अरे! प्रमाणवार्तिकके आचार्य धर्मकीर्ति तो जैसे रोषमें प्रलाप ही कर बैठे और बलिहारी तो यह है कि सभी तत्त्वोंको उभयरूपी माननेके संदर्भमें वे दही और ऊँटको एक मानकर दहीकी जगह ऊँट खानेकी बात कर बैठते हैं। अब इसे तर्क कहा जाये या विकृत कुतर्क। उन्हें यही भेद मालूम नहीं कि द्रव्यकी अतीत और अनागत पर्यायें जुदी हैं। व्यवहार तो वर्तमान पर्यायके अनुसार चलता है।

प्रज्ञाकर गुप्त जैसे चिंतक तो वस्तुके उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यको ही सत्य नहीं मानते। वे क्या यह स्वीकार करते हैं कि मिट्टी घट बनकर मिट्टीके मूल स्वरूप में है? क्या पर्याय नहीं बदली? क्या एक क्षणके व्यय हुए बिना नया क्षण आयेगा? क्षण सन्तति निरन्तर चालू रहती है।

काश वे समझ सकते कि—"वर्तमान क्षणमें अतीतके संस्कार और भविष्यकी योग्यताका होना ही ध्रौव्यत्वकी व्याख्या है।" इसी प्रकार तत्कालीन अनेक बौद्धाचार्यों एवं हिन्दू धर्मके चिंतकों ने 'स्यात्'को पूर्ण रूपसे न समझनेके कारण या एकांतवादी दृष्टिसे इसमें शंका, कदाचित्, अर्धसत्य जैसे विधानोंसे अपना रोष या विरोध प्रकट किया। श्री श्रीकंठ जैसोंने स्याद्वादमें अपेक्षारूपी व्यवस्थाको गुड़ चटाकर मूर्ख बनाने वाली बात ही कह दी। श्री रामानुजाचार्य या वल्लभाचार्य इसे विरोधाभाषी दूषण उपस्थित करनेवाला दर्शन ही मानते रहे। चूँकि ये सब वेदोंके एकांतवादसे प्रभावित हैं अतः ऐसी विचार वैविध्यकी भाषा-दर्शनको मानना संभव भी कैसे होता!

इन सभी विचार धाराओं पर विचार प्रकट करते हुए डॉ. महेन्द्रजीने कितना सचोट तर्क प्रस्तुत किया है। "व्यतिकर परस्पर विषय गमनसे होता है यानी जिस तरह वस्तु द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य है तो उसका पर्यायकी दृष्टिसे भी नित्य मान लेना या पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य है तो द्रव्यकी दृष्टिसे भी अनित्य मानना। परंतु जब अपेक्षायें निश्चित हैं, धर्मोंमें भेद हैं, तब इस प्रकारके परस्पर विषयगमनका प्रश्न ही नहीं है। अखंड धर्मीकी दृष्टिसे तो संकर और व्यतिकर दूषण नहीं, भूषण ही है। भगवान महावीरने उपेय तत्त्वके साथ उपाय तत्त्वका भी सांगोपांग वर्णन करके [1] सारे संशय दूर किये।

क्षु. जिनेन्द्रकुमार वर्णीजीने जैनेन्द्र सिद्धांत कोशमें कितना स्पष्ट अर्थ दिया है—"...मुख्य धर्मको सुनते हुए श्रोताको अन्य धर्म भी स्वीकार

---

१. चूँकि अनेक स्थानों पर ब्रह्मवादियों या एकांतदर्शनिकोंके कथनोंमें ही स्याद्वादकी परोक्ष स्वीकृति स्याद्वादकी महत्ताकी स्वीकृति द्योतक है। उ. यशोविजयजीने कुमारिल भट्ट एवं पातंजलके ही ऐसे उदाहरण अपने ग्रन्थ अध्यात्मोपनिषद्में उद्धरित कर स्याद्वादकी प्रतिष्ठाको प्रस्थापित किया है।

होते रहें उनका निषेध न होने पावे इस प्रयोजनसे अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्यके साथ स्यात् या कथंचित् शब्दका प्रयोग करता है।

इस विवेचन या चर्चा-चिन्तनके पश्चात् इतना स्पष्ट हो ही गया कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मी है। इसकी परख विविध दृष्टिकोणसे की जाये तो उसका सही मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ पर्यायानुसार परिवर्तनशील है पर द्रव्यार्थिकदृष्टिसे स्थिर भी है। स्याद्वाद का व्यवहारिक स्वरूप व्यक्तियोंके बीच प्रेम, मैत्री और समभावको पनपाता है। चित्तको राग-द्वेष मुक्त करके स्वस्थ बनाता है। 'ग्रंथि' से बचाता है। विश्व अशांति दूर करनेका इससे सरल उपाय क्या होगा कि हम अपनी बात मनवानेके साथ दूसरोंकी बात भी माने।

वर्तमान युगके महान वैज्ञानिक आइन्स्टाईनके सापेक्षवादमें दृष्टि वैविध्यसे वस्तुपरीक्षणमें स्याद्वाद दर्शन ही तो प्रस्थापित हुआ है।

परस्पर द्वेषका कारण दृष्टिभेद है इसे प्रेममें परिवर्तन किया जा सकता है। दृष्टिको समझनेकी स्याद्वादमयी विशालता-सरलता एवं तरलताके है।

"भक्तामर स्तोत्रमें भक्ति एवं साहित्य"

जैन साधना पंथके सभी आम्नायोंमें जिस स्तोत्रका सर्वाधिक श्रद्धा और भक्तिसे स्मरण किया जाता है, जिसे पवित्र एवं सिद्धिदाता स्तोत्र माना जाता है—वह है आचार्य मानतुंगसूरि रचित भक्तामर स्तोत्र।

अपने इस विषयका "प्रतिपादनमें इस ढंगसे करूँगा...प्रारम्भमें मैं भक्तिका, साहित्यका, स्तोत्रकी रचना की ऐतिहासिकताका एवं आचार्यश्रीका संक्षिप्त परिचय कराऊँगा। तत्पश्चात् स्तोत्रके पदोंके परिप्रेक्ष्यमें भक्ति एवं साहित्यकी समीक्षा करनेका प्रयास करूँगा।

यद्यपि भक्ति और साहित्यके विषयमें पृथक्से एक-एक गवेषणात्मक लेख प्रस्तुत किया जा सकता है पर यहाँ तो संक्षिप्तमें ही समझेंगे।

भक्तिः—जैन ग्रन्थोंमें भक्ति सम्बन्धी अनेक स्थापनायें द्रष्टव्य हैं। आचार्य पूज्यपादके कथनानुसार अर्हत परमात्मा, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुज्ञानी सन्तों और जिनवाणीमें भावोंकी विशुद्धिपूर्वक जो अनुराग होता है, वही भक्ति है। जिसमें स्वार्थ, प्रशंसा, छल नहीं होना चाहिये। भक्त निरंतर आत्मोत्थानमें ही प्रयत्नशील रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्दाचार्यने भक्तिके स्वरूपकी चर्चा करते हुए कहा है:—

जीवकी व्यवहारसे भक्ति होती है—"मोक्खंगय पुरिसाण गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि । जो कुणदि परमभक्ति व्यवहारणयेन परिकहियं । [1]स्वार्थ-सिद्धिमें—" भाव विशुद्धियुक्तोऽनुरागी भक्ति ।" [2] कहकर भावोंकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना भक्ति है—माना है ।

भावपाहुड़में आचार्य कहते हैं..." जो नित्य है, निरंजन है, शुद्ध है तथा तीन लोकके द्वारा पूजनीक है—ऐसे सिद्ध भगवान ज्ञान—दर्शन और चारित्रमें श्रेष्ठ उत्तम भावकी शुद्धता दो ।" [3] भक्तिविभोर भक्त व्यवहार रूपसे अर्हतमें कर्तापनेका भाव आरोपित कर मुक्तिकी याचना में लीन हो जाता है । पद्मनंदि पंचविंशतिकामें आचार्य लिखते हैं— "तीनों लोकोंके गुरु और उत्कृष्ट सुखके अद्वितीय कारण ऐसे हैं जिनेश्वर! इस, मुझ दासके ऊपर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो जाये । हे देव! आप कृपा करके मेरे जन्मको नष्ट कीजिये यही एक बात मुझे आपसे कहनी है ।...वचनोंसे कीर्तन किये गये, मनसे वन्दना किये गये और कामसे पूजे गये ऐसे ये लोकोत्तम कृतकृत्य जिनेन्द्र मुझे परिपूर्ण ज्ञान, समाधि और बोधि प्राप्त करें। धवलामें अरहंतोंके गुणानुरागरूप भक्तिको अरहंत भक्ति कहा है। पुनश्च, अरहंतके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करनेको अरहंत भक्ति कहा है ।

जैनधर्ममें व्यवहार भक्तिके साथ निश्चय भक्तिका महत्त्व अंकित है। नियमसारमें आचार्य कहते हैं—" निज परमात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान अवबोध आचरण स्वरूप शुद्ध रत्नत्रय परिणामोंका जो भजन, वह भक्ति है आराधना ऐसा उसका अर्थ है [4]। समयसारमें निश्चयनयसे वीतराग

१. देखो नियमसार पृ. १३५ जैनेन्द्र सिद्धांत कोश पृ. २०८

२. देखो स. सिद्धि ६/२४/३३९ जैनेन्द्र सिद्धांत कोश पृ. २०८

३. देखो जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ. २०८

४. देखो नियमसार—

सम्यग्दृष्टियोंके शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनारूप भक्ति होती है ।[1]

जैनधर्मके सिद्धांतानुसार वीतराग यद्यपि कुछ भला या बुरा नहीं करते ना कुछ लेते-देते हैं, परंतु इसी तथ्यको आचार्य समन्तभद्रने ध्यानमें रखते हुए कहा है—"न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्त-वैरे । तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥"[2] अर्थात्–हे नाथ न आपकी पूजा स्तुतिसे कोई प्रयोजन है और न निन्दासे, क्योंकि आप समस्त वैर-विरोधका परित्याग करके परम वीतराग हो गये हो, तथापि आपके पुण्य गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापमलोंसे मुक्त करके पवित्र कर देता है ।

जैनेतर धर्मोंमें भी भक्ति पर विविध शास्त्रोंमें अनेक व्याख्याएं [illegible] हैं । भक्तिका अर्थ सेवा करनेके संदर्भमें किया गया है । [illegible] माना गया है । जहाँ ईश्वरकी सेवा करते हुए उसके साथ तादात्म्य [illegible] वही भक्ति श्रेष्ठ है । संक्षेपमें यों कहा जा सकता है [illegible] ही भक्ति है । भक्तिके अनेक प्रकारोंमें [illegible] प्रायः सभी धर्मोंने स्वीकार किया है । [illegible]

सूत्रमें दृढ़ता पूर्वकके अनुरागको भक्ति कहा है। [1]अन्य धर्मोंमें भी भक्तिकी महत्ताके अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि ईश्वर प्राप्ति या मुक्ति-प्राप्तिके लिये ज्ञानसे अधिक भक्तिकी विशेष प्रधानता रही है।

साहित्य—साहित्य शब्दको संक्षेपमें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है...साहित्य अर्थात् सहित होनेका भाव। पुनश्च "हितेन सहितम्" अर्थात् हितके साथ होना। इससे इसको इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्यमें सहित एवं हित दोनोंका साहचर्यभाव होनेसे स्व एवं परके कल्याणका भाव निहित है। चूँकि साहित्यके अंतर्गत विश्वका प्रत्येक विषय समाहित है, पर यहां हम काव्य साहित्य तक ही सीमित रहेंगे। कवि या सर्जक जब अपने मनः उद्‌गारोंको वाणीके द्वारा व्यक्त करता है अर्थात् जब उसकी अनुभूति वाणीके द्वारा झरनेसी प्रवाहित होने लगती है तभी साहित्यका सृजन होता है। ऐसी वाणीकी कोमलता, भाव-प्रवणता कलाकारको आत्मसुख प्रदान करते ही हैं-जन-जनको कल्याण-वाणी से आह्लादित बनाते हैं। ऐसी वाणी किसी किसी संतके कंठ से फूटी हो तो फिर युगकी भागीरथी ही बन जाती है। साहित्य जहाँ भावों के साथ कलाका संगम है, भक्ति-गीतोंके साथ आराध्यके "प्रति सान्निध्य है, आत्माका परमात्माके साथ नैकट्य भाव है; भाषा और माधुर्य भावका सामीप्य है और जहाँ है व्यष्टिके साथ समष्टिका एकत्वभाव। मानक हिन्दीकोश में साहित्यकी व्याख्या करते हुए लिखा है-वे सभी वस्तुयें जिनका किसी कार्यके संपादन के लिये उपयोग होता है...आवश्यक सामग्री। जैसे पूजाका साहित्य – अक्षत्, जल, फूलमाला आदि।...लेखों आदिका समूह या सम्मिलित राशि जिसमें स्थाई उच्च और गूढ़ विषयोंका सुन्दर रूप से व्यवस्थित विवेचन हुआ हो।... साहित्य मनुष्यको ऐसी अन्तर्दृष्टि देता है जिससे कलाकार किसी

१. माहात्म्य ज्ञानपूर्वकस्तु, सुदृढो सर्वतो अधिको अनुरागः भक्तिः।

प्रकारकी कलासृष्टि करके आत्मोपलब्धि करता है और रसिक लोग उस कलाका आस्वादन करके लोकोत्तर आनंदका अनुभव करते हैं ।

भक्तामर स्तोत्रकी ऐतिहासिकता :–

अब आपके समक्ष इस भक्तामर स्तोत्र एवं आचार्य मानतुंगके विषय में संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना विषयानुकूल एवं योग्य समझता हूँ ।

जैनाचार्योंने पंचपरमेष्ठीकी भक्तिसे ओत-प्रोत अनेक स्तवन या स्तोत्रोंकी रचनाये की हैं । उन स्तोत्रों में जिन गिने-चुने स्तोत्रोंकी महिमा है उनमें से भक्तामर स्तोत्र एक है । इसकी मांत्रिक महत्ता भी विशेष है । दिगंबराचार्य प्रभाचन्द्र इसे 'महाव्याधिनाशक' स्तोत्र मानते हैं और श्वेतांबराचार्य प्रभाचंद्रसूरि इसे सर्वोपद्रवहर्ता मानते हैं । इस स्तोत्रके साथ अनेक अतिशय एवं किंवदन्तियाँ जुड़ी हुई हैं । भारतीय एवं पाश्चात्य अजैन विद्वान मैक्समूलर, कीथ, वेबर, जैकोबी, विन्टर नित्स, पं. दुर्गाशंकर शर्मा, गिरीशंकर हीराशंकर ओझा, बलदेव उपाध्याय, भोलाशंकर व्यास जैसे प्रमुख विद्वानोंने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है । इसका अनुवाद अनेक पाश्चमी भाषाओंमें हुआ है । प्रो. विन्टर नित्स लिखते हैं कि धार्मिक भक्ति एवं मांत्रिक शक्ति दोनों ही दृष्टिओंसे मानतुंग कृत भक्तामर एक सर्वाधिक [illegible] स्तोत्र है ।[1] जहाँ तक इसके नामका सम्बन्ध है वह इसके प्रथम [illegible] आधार पर प्रचलित हुआ लगता है । 'प्रथम जिनेन्द्र' के आधार पर [illegible] स्तोत्र नाम भी है ।

[illegible] पद संख्याके विषयमें दिगम्बर श्वेतांबर आम्नायोंमें [illegible] है । श्वेतांबर आम्नायमें ४४ पद हैं, जब कि दिगम्बर [illegible] ४८ हैं । इन ४८ पदोंकी दृष्टिसे श्वेतांबर आम्नायमें ३२, [illegible] पद नहीं हैं जिनमें क्रमशः देवदुंदुभि, पुष्प[illegible]

[illegible] हिस्टरी आफ इन्डियन लिटरेचर भा. [illegible]

वृष्टि, भामंडल एवं दिव्यध्वनि प्रतिहार्योंका वर्णन है। यद्यपि श्वेतांबर आम्नायमें ८ प्रतिहार्योंका स्वीकार है, जिनका कल्याणमंदिर स्तोत्रमें स्वीकार है...यहाँ क्यों नहीं यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। जैकोबीने श्वेतांबर आम्नायके ४४ पदोंमेंसे भी ३९ वें और ४३ वें (दिगम्बरोंके ४३ वें ४७ वें) पदोंको प्रशिक्ष्त माना है, जिससे संख्या घटकर ४२ रह जाती है। कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें ४८ के उपरांत चार-चार श्लोकोंके चार विभिन्न गुच्छक भी मिले हैं जो संख्याको ६४ तक पहुँचाते हैं। इस चर्चासे इतना तो सिद्ध होता ही है कि यह स्तोत्र मानतुंगाचार्य द्वारा रचित है। श्लोकोंकी संख्याका विवाद हमारा प्रतिपाद्य नहीं है।

भक्तामर श्लोकके आविर्भावके विपयमें अनेक जनश्रुतियाँ हैं पर सर्वाधिक मान्य जनश्रुति यही है कि धार नरेशने आचार्य मानतुंगसे अपने आराध्यका चमत्कार या अतिशय बतानेको कहा। उन्हें ४८ कोठरियोंके भीतर बन्द कर दिया। प्रत्येक कोठारीमें ताला लगा दिया। वही आचार्यने इस भक्ति-भाव-प्लावित स्तोत्रकी रचना की और एक श्लोककी रचनासे एक-एक ताला टूटता गया। कहीं कहीं ४८ साकलोंसे जकड़नेकी भी चर्चा है।

आचार्य मानतुंग श्वेताम्बर थे या दिगम्बर। श्वेताम्बरसे दिगंबर हुये या दिगंबरसे श्वेतांबर यह चर्चा विद्वानोंके लिये छोड़ दे पर एक सत्य है कि मानतुंगाचार्य दोनों सम्प्रदायोंमें पूज्य थे और इस अमरगीतके गायक भक्त कवि अवश्य थे।

भक्तामरकी अनेक भाषाओंकी प्रतियाँ, अनुवाद एवं उस पर लिखी गई अनेक टीकायें उपलब्ध हैं यही इसकी लोकप्रियताका बृहद् प्रमाण है।

भक्तामर स्तोत्रमें भक्तिका स्वरूप—

भक्तामर स्तोत्रके इस स्तवनमें कविने अपने प्रबलभाव भक्तिको इष्टदेवके प्रति अनुरागरत होकर गाया है। आराध्य प्रभुके रूप सौन्दर्य,

जीवनाधार हो और पवनझकोरोंका जिसे भय हो। आपके तले लौकिक दीपसा अंधकार भी नहीं है। हे नाथ! आप तो अलौकिक दीप हैं[1]। जिनेन्द्रदेव! सूर्यसे भी अधिक प्रकाश-तेजवान हैं। अद्वितीय मार्तण्ड हैं जो तीनों लोकोंको हर समय प्रकाशित बनाये रहते हैं। वे उस सूर्यसे श्रेष्ठ हैं जो ग्रहण और अस्त होनेसे मुक्त हैं[2]। इसी सौन्दर्यसे अभिभूत भक्त अपने इष्टके रूपमें इतना विभोर है कि निरन्तर नयी उपमाओंसे उसे तौलता है। अरहन्तदेवका मुख कमल ऐसा विलक्षण चन्द्रमा है जिसका कभी क्षय नहीं होता ग्रहण नहीं लगता एवं जिसकी कांति घटती-बढ़ती नहीं अपितु सदाकाल देदीप्यमान रहती है। यही मुखचन्द्र संसारको तेज देकर मोह अंधकारका भी विनाश करता है[3]। अरे! आपका मुख-सौन्दर्य और तेज दर्शन करनेके पश्चात् सूर्य और चन्द्र दोनोंकी आवश्यक्ता ही कहाँ[4]? स्तुतिकार क्षितितलामलभूषण सम्बोधन करके भगवानको अर्ध, मध्य और अधोलोकके प्राणियोंमें शिरोमणि मानते हुए उनीतलका शृंगार सिद्ध करता है। जिनका रूप रत्नत्रयको सुरभितमाला, अनन्त चतुष्टयके मणिमुकुट और नव केवल लब्धियोंके अलंकारोंसे सुशोभित हो रहे हैं[5]। जो आठ प्रतिहार्योंसे और भी अधिक शोभित एवं दर्शनीय लग रहे हैं। जिनेन्द्रदेवकी देदीप्यमान रश्मियाँ अशोकवृक्षको शोभा प्रदान कर रही हैं। रत्नजड़ित सिंहासन पर कंचन काया शालीन लग रही है। देवों द्वारा ढोले जानेवाले धवल चँवर आपके शरीरकी शोभा कुंदपुष्प-सी धवल प्रतिभासित हो रही है। और आपका रूप वैसा ही प्रतीत होता है मानो सुमेरुपर्वतके उन्नत तट पर जल प्रपात झर रहा हो। जो उदीयचन्द्रसा कांति युक्त है[6]। आपके शिर पर लगे तीन छत्र उनकी झिलमिलाहटसे

---

१. भक्तामर श्लोक १६   २. भक्तामर श्लोक १७
३. ,, ,, १८   ४. ,, ,, १९
५. ,, ,, २०   ६. ,, ,, ३०

रूपकी झिलमिलाहट हृदयको आकर्षित कर रही है। अरहंतदेवकी दिव्य देहमें प्रस्फुटित रश्मियोंका प्रभामंडल गोलाकार भामंडलकी शोभा-निर्मित कर रहा है। जिसकी शोभा समस्त पुंजीभूत पदार्थोंको मात देती है। त्रिलोकीनाथके पावन युगल चरण नव प्रस्फुटित कमल से हैं। उनके नखोंकी चमचमाती किरणें सर्वत्र बिखर रही हैं।

स्तोत्रमें अरहंतके दर्शन-नाम-महत्वका फलः—

प्रायः प्रत्येक भक्त, भक्ति की भावविह्वलता में भावविभोर होकर आराध्यके अतिशयोंकी प्रस्तुति करके स्वयं तो आनन्दानुभूति करता ही है अन्य लोगोंको भी आकर्षित करता है। भक्तामर स्तोत्रमें श्री जिनेन्द्रदेवकी महिमा एवं अतिशयोंका वर्णन किया है। जिनेन्द्रदेवके नामकी ही इतनी महिमा है कि स्वतः व्यक्ति निर्मल होकर उनके चरणाम्बुजों में नतमस्तक हो जाता है। वाणी स्तुतिके लिये स्वयं फूटने लगती है। सत्य तो यह है कि उनकी ही यह महिमा है कि स्तुतिकारको प्रेरणा प्राप्त हुई है। हे नाथ आपके तेजकी ही यह महिमा है कि उसकी एक मात्र सूर्य-सम किरणसे युगका मिथ्या-अंधकार तिरोहित होने लगता है। हे प्रभु ! आपकी महिमा चन्द्र, सूर्य सभीसे उत्कृष्ट है, आपकी महिमाके सामने किसीकी महिमा ठहर नहीं पाती। समवसरणमें विराजित तीर्थंकरदेवका तेज अहर्निश भूमण्डलको प्रकाशित करता है। हे अतिशय युक्त ! आपकी विलक्षणता तो आपके जन्मके दस अतिशयोंके साथ ही प्रगट होने लगती है। जिनेन्द्र-देव कभी अपने आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं होते अतः अव्यय हैं, समस्त कर्मों को क्षय करनेवाले होनेसे विभु हैं, निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मानुभूतिके क्षणोंमें अनुभव गोचर होनेसे अचिन्त्य हैं, संख्यातीत होनेसे असंख्य हैं, आत्मामें निमग्न रहने से ब्रह्मा हैं, ज्ञानादि ऐश्वर्य सम्पन्न होनेसे ईश्वर हैं, अनन्तचतुष्टयके धारक होनेसे अनन्त हैं, काम-विजयी होनेसे अनङ्गकेतु हैं, योगियों द्वारा सेव्य होनेसे योगीश्वर हैं, अष्टांग योग के ज्ञाता होने से योगवेत्ता हैं, अनन्तगुणों की अखंडता और अभेदता के कारण आप एक हैं, विशुद्ध ज्ञान के परिणमन के कारण आप ज्ञानस्वरूप हैं तथा द्रव्य, भाव एवं नोकर्म के मलों से मुक्त आप अमल हैं[1]। मानतुंगाचार्य पुनः पुनः नमस्कार करते हैं क्योंकि आदिदेव तीनों लोक की वेदनाओं के हर्ता हैं, तीनों लोक के पवित्र-पावन, मंडन-मनोज्ञ अलंकार रूप हैं, परमेश्वर हैं और संसार-सागरको प्रचंड तेज से शोख

---

१. भक्तामर श्लोक २४

ही लोक प्रकाशित हो रहे हैं। हे देव! आपके नामकी महत्ता इसलिये और भी अधिक बढ़ गई है, क्योंकि उसमें नामके अनुसार गुण विद्यमान हैं। आपके स्व-पर प्रकाशक केवलज्ञानके आगे समस्त क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञानोंका अवमूल्यन हो जाता है। आपके दर्शनसे चित्त इतना संतुष्ट हो जाता है कि मृत्युके उपरांत भी अन्य जन्मोंमें अन्य देवोंके दर्शनकी एषणा नहीं रहती। जिनेन्द्र देव सहस्रनामोंके धारक एवं तदनुरूप गुणोंके धारक हैं। वे अक्षय, अव्यय, अद्युतस्मरणी, ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्त, योगीश्वर, ज्ञानस्वरूप हैं[1]। आपकी सर्वाधिक महत्ता यही है कि आप 'त्रिभुवनार्ति हर' हो। आपके दर्शनसे मानसिक पीड़ा, व्याधि तो दूर होते ही हैं पर उच्चस्थितिमें प्रस्थापित होकर परमात्मा और आत्माका ऐसा अभेद भाव प्रगट होता है। श्री जिनेन्द्रदेवके ८ प्रतिहार्योंकी महत्ता जिनेन्द्रदेवके रूप और दर्शनके कारण है। भगवानके दर्शन और ध्वनिसे मुमुक्षुओंकी मुक्ति और लौकिकजनोंको स्वर्ग सम्प्रदादिक पुण्य विभूतियोंके द्वारा स्वयं खलु जाते हैं। तीर्थंकरदेव तो सर्वोदय तीर्थके साक्षात प्रतीक हैं। समवसरणमें उनके दर्शन मात्रसे प्राणी परस्पर वैरभाव भूल जाते हैं। उनके स्मरण मात्रसे भयानक रोग-शोक-भय नष्ट हो जाते हैं। अरे! लौह जंजीरोंमें जकड़ा बन्दी भी नाम-स्मरण मात्रसे भय एवं बन्धन मुक्त हो

प्रायः प्रत्येक भक्त, भक्ति की भावविह्वलता में भावविभोर होकर आराध्यके अतिशयोंकी प्रस्तुति करके स्वयं तो आनन्दानुभूति करता ही है अन्य लोगोंको भी आकर्षित करता है। भक्तामर स्तोत्रमें श्री जिनेन्द्रदेवकी महिमा एवं अतिशयोंका वर्णन किया है। जिनेन्द्रदेवके नामकी ही इतनी महिमा है कि स्वतः व्यक्ति निर्मल होकर उनके चरणाम्बुजों में नतमस्तक हो जाता है। वाणी स्तुतिके लिये स्वयं फूटने लगती है। सत्य तो यह है कि उनकी ही यह महिमा है कि स्तुतिकारको प्रेरणा प्राप्त हुई है। हे नाथ आपके तेजकी ही यह महिमा है कि उसकी एक मात्र सूर्य-सम किरणसे युगका मिथ्या-अंधकार तिरोहित होने लगता है। हे प्रभु ! आपकी महिमा चन्द्र, सूर्य सभीसे उत्कृष्ट है, आपकी महिमाके सामने किसीकी महिमा ठहर नहीं पाती। समवसरणमें विराजित तीर्थंकरदेवका तेज अहर्निश भूमण्डलको प्रकाशित करता है। हे अतिशय युक्त ! आपकी विलक्षणता तो आपके जन्मके दस अतिशयोंके साथ ही प्रगट होने लगती है। जिनेन्द्र-देव कभी अपने आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं होते अतः अव्यय हैं, समस्त कर्मों को क्षय करनेवाले होनेसे विभु हैं, निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मानुभूतिके क्षणोंमें अनुभव गोचर होनेसे अचिन्त्य हैं, संख्यातीत होनेसे असंख्य हैं, आत्मामें निमग्न रहने से ब्रह्मा हैं, ज्ञानादि ऐश्वर्य सम्पन्न होनेसे ईश्वर हैं, अनन्तचतुष्टयके धारक होनेसे अनन्त हैं, काम-विजयी होनेसे अनङ्गकेतु हैं, योगियों द्वारा सेव्य होनेसे योगीश्वर हैं, अष्टांग योग के ज्ञाता होने से योगवेत्ता हैं, अनन्तगुणों की अखंडता और अभेदता के कारण आप एक हैं, विशुद्ध ज्ञान के परिणमन के कारण आप ज्ञानस्वरूप हैं तथा द्रव्य, भाव एवं नोकर्म के मलों से मुक्त आप अमल हैं[1]। मानतुंगाचार्य पुनः पुनः नमस्कार करते हैं क्योंकि आदिदेव तीनों लोक की वेदनाओं के हर्ता हैं, तीनों लोक के पवित्र-पावन, मंडन-मनोज्ञ अलंकार रूप हैं, परमेश्वर हैं और संसार-सागरको प्रचंड तेज से शोख

१. भक्तामर श्लोक २४

लेने में समर्थ हैं[१]। अष्ट प्रतिहार्योंका तेज यद्यपि आपसे ही तेजवान हैं तथापि ये प्रतिहार्य आपके अतिशय और महिमाको ही प्रदर्शित करते हैं। जिससे भव्य जीवोंको कल्याणमार्गकी प्रेरणा मिलती है। जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि यद्यपि निरक्षरी है तथापि भिन्न-भिन्न कोटि के श्रोता (पशु-पक्षी सहित) स्व-भाषा में समझ लेते हैं। तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि अहोरात्रिकी चार सन्ध्यायों में छह छह घड़ियोंके अन्तराल से खिरती रहती है जो एक योजन तक सुन पड़ती है।

जिनेन्द्रदेवकी स्तुति जीवनकी मुक्तिका मार्ग तो प्रशस्त करती ही है, पर उनकी आराधना से लौकिक एवं तात्कालिक सफलतायें भी यथाशीघ्र प्राप्त होती हैं। ऐरावत के समान भीमकाय हाथी क्रोध से मदोन्मत्त होकर उच्छृंखल हो गया हो जिसको वश में करना असम्भव-सा हो गया हो, वह हाथी भी आराधक के सन्मुख आने पर उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता...अरे! बर्बर पशु अपनी पशुता त्यागकर सौम्यता धारण कर लेता है[२]। बलिष्ठ हाथी को क्षत-विक्षत कर देने वाला खूंखार सिंह भी आपके भक्त पर वार नहीं कर सकता। सिंह भी अपनी क्रूरता त्याग देता है[३]। हे जिनेन्द्र! आपके नामस्मरण के शीतल जल से वह प्रचण्ड दावाग्नि प्रचंड झकोरों से धधकती है जो भूमंडल को लीलने के लिए लपलपाती है वह भी शामिल हो जाती है[४]। जिनेन्द्रदेवका कीर्तन करने वाला कालसे काले और ज़हरीले नागको भी वैसे ही पांव धर कर लांघ जाता है जैसे नागदमनी बूटी को लेकर कोई अन्य उसे लांघ सकता है। आपका कीर्तन नागदमनी-जड़ी सा प्रभावक है[५]। भीषण रणक्षेत्र में

---

१. भक्तामर श्लोक २६
२. ,, ,, ३८
३. ,, ,, ३९
४. ,, ,, ४०
५. ,, ,, ४१

जहाँ उछलकर घोड़े हिनहिना रहे हैं, हाथी चिंघाड़ रहे हैं, दुश्मनकी सेना अग्निबाण वर्षा रही है—ऐसे समय पर आपका चरण-सेवी आपकी अनुकंपा से विजय प्राप्त करता है[1]। आपकी भक्तिकी ही यह महिमा है कि विकराल मगरों, भीमकाय मत्स्यों से युक्त, वडवानल से जलते तूफानी समुद्रको भी आपका भक्त सरलतासे निर्विघ्न पार कर लेता है[2]।

इस प्रकार प्राकृतिक बाह्य व्याधियोंके साथ हे नाथ आपका स्तवन शारीरिक पीड़ाओंका भी हरण कर्ता है। जलोधर रोगसे पीड़ित मनुष्य जिसकी कमर टेढ़ी पड़ गई है, जिसकी दशा सोचनीय है, जिसके जीनेकी आशा छूट गई है, उसके शरीर पर यदि आपकी भभूत (चरणरज) लगा दी जाये तो वह रोग मुक्त होकर कंचन काया प्राप्त कर लेता है[3]। अर्थात् सांसारिक रोगोंसे उसे मुक्ति मिलती है। यह भगवानके नाम स्मरणका ही चमत्कार है कि लोह शृंखलामें जकड़ा हुआ व्यक्ति, जिसका शरीर रगड़के कारण छिल गया है, जो बन्दीगृहमें परवश है वह भी स्वयमेव मुक्त हो जाता है[4]। तात्पर्य कि जिनेन्द्रदेवके नाम स्मरण, कीर्तन की ही यह महिमा है कि भक्त संसारके सभी दुःखों और भयोंसे छूटकारा पाकर मुक्ति लक्ष्मीका स्वामी बनता है...उसे लौकिक सम्पदायें प्राप्त होती ही हैं—वह मोक्षलक्ष्मीका अनन्त सुख प्राप्त कर लेता है।

कृतिकारकी विनम्रता—

भक्तिका और विशेषकर दास्यभक्तिका यह लक्षण है कि भक्त भगवानको सदैव श्रेष्ठ मानकर अपनी लघुता प्रगट करता है। स्वयंको

१. भक्तामर श्लोक ४२-४३
२. ,, ,, ४४
३. ,, ,, ४५
४. ,, ,, ४६

निर्बल अल्पबुद्धि मानते हुए स्तवन में लीन हो जाते हैं। यह सत्य भी है कि जब तक अहमका तिरोहण न होगा भक्ति की ही न जा सकेगी...उसमें ओत-प्रोत नहीं हुआ जा सकेगा। आचार्य मानतुंग बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहते हैं कि हे जिनेन्द्रदेव मैं तो बुद्धिहीन हूँ। जैसे जल में स्थित चन्द्रको पकड़ने के लिये कोई बाल मचले वैसे ही आपकी कीर्ति-गान करनेको मैं चेष्टाकृत हआ हूँ...जो संभव कहाँ? पर भक्तिका अदभ्य

उसी भाँति आपकी गुण-मंजरी मुझे गुनगुनाने की प्रेरणा दे रही है[1]। अपनी इसी लघुता के प्रति आचार्य कहते हैं कि यद्यपि ओस बिन्दुकी कोई कीमत नहीं होती, पर कमलपत्र के सान्निध्य से उसे मोती-सी चमक प्राप्त हो जाती है वैसे ही मुझ मंदबुद्धि द्वारा किया गया यह स्तवन आपके प्रताप, प्रभाव एवं प्रसाद से सज्जन पुरुषों के चित्तको प्रफुल्लित करेगा[2]। अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञानकी प्राप्ति में सहायक होगा। सच तो यही है कि भक्तकी लघुता, अहमका तिरोहण, आराध्यके चरणों में समर्पण ही भक्तिकी उच्चता है।

इस पूरे स्तोत्र में भक्तिकी सर्व श्रेष्ठता सिद्ध की है। यह बाह्यरूप से लौकिक स्मरण इस जीवको निश्चयनय से कर्मों के बंधनों से मुक्त कर स्वयं तीर्थंकरों-सा समुन्नत बनाता है। कर्मोंका क्षय करके यह जीव जन्म-मरण के भयों से छूटकर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करता है। पूरे स्तोत्रकी इस प्रकार आध्यात्मिक मीमांसा की जा सकती है।

इस भक्तामर स्तोत्रको सर्वसिद्धिदाता मंत्र स्तोत्र कहा गया है। दक्षिण में ऐसे ४८ यंत्र प्राप्त हुए हैं। एक-एक यंत्र एक एक श्लोक संबंधी है और प्रत्येक श्लोक किन-किन पीड़ाओं को दूर कर कौन-कौन सी सिद्धि प्रदान करता है, उसकी विधि-विधान क्या है इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इन सबका विशद विवेचन एक अलग से विषय हो सकता है।

कलापक्ष—

अभी तकके विवेचनमें स्तोत्रके भावपक्ष पर प्रकाश डाला गया। अब मैं उसके कलापक्ष जो अभिव्यक्तिका सौन्दर्य पक्ष है उस पर विचार व्यक्त करूँगा। इसके अन्तर्गत भाषाका सौन्दर्य, उसकी शक्ति, अलंकार आदिकी चर्चा प्रधान है। यदि रचनाकी आत्मा उसका भावपक्ष है तो कलेवर

---

१. भक्तामर श्लोक ६

२. ,, ,, ८

या शरीर उसकी भाषा या पक्ष है। अनुभूतिका सौन्दर्य भाषा द्वारा निखर उठता है।

भक्तामर स्तोत्रकी भाषा मूल संस्कृत है इसे हम सभी जानते हैं। पर कविने शब्दचयन द्वारा उसे सँवारा है। पं. अमृतलाल शास्त्रीने सच ही कहा है-"वसन्ततिलका अपरनाम मधुमाधवी नामक वर्णिक छंद में रचित सुललितसंस्कृत के अडतालीस पद्योंवाले इस मनो मुग्धकारी स्तोत्ररत्न में परिष्कृत एवं सहजगम्य भाषा-प्रयोग, साहित्यिक सुषमा, रचना की चारुता, निर्दोष काव्यकला, उपयुक्त शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों की विच्छित्ति दर्शनीय है, और आध से अंत तक भक्तिरस अविच्छिन्नधारा अस्खलित गति से प्रवाहित है। अनावश्यक पांडित्य प्रदर्शन से स्तोत्र को बोझिल नहीं बनाया[1]।" पूरे स्तोत्र के पठन के पश्चात् कहीं भी वाणी विलास की विकृति या वाचालता नहीं। सर्वाधिक भाषाका गुण तो यह है कि वह भक्त के ऋजु एवं आराधना-भावों के अनुकूल और भावोंकी वाटिका बनकर प्रफुल्लित ही बनाती है।

कविने पूरा स्तोत्र वसंततिलका छन्द में बिना किसी स्खलन के प्रस्तुत किया है। "तभजजगुगु" अर्थात् तगण, भगण, जगण, जगण [illegible] गुरु गुरु के शास्त्रीय बंध का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

[illegible] लक्षणा एवं व्यंजना शक्तिका प्रयोग मनोहर ढंग से किया [illegible] है। [illegible] में आराध्य की महिमा का गुणगान और उनके अतिशयों [illegible] वर्णन में इन्हीं शक्तियों का प्रयोग हुआ है। कवि का शब्द शिल्प [illegible] है। [illegible] प्रत्येक शब्द अर्थ एवं भाव की सूक्ष्मता से व्यक्त [illegible] रखता है। वैसे प्रत्येक शब्दकी विवेचना की जा सकती [illegible] कुछ उदाहरण ही प्रस्तुत करके अपने कथनको पुष्ट करूँगा। [illegible] की शक्ति, गुण और प्रभाव के सामने आती

[1] [illegible] पृष्ठ २६

निर्बलता, वाचालता और उमंग की चर्चा की है वहां हर शब्द दोनों के भेद को स्पष्ट करते हैं। कवि ने जिनेन्द्रदेव के लिए जिन विशेषणों या उपमानों का प्रयोग किया है वे इसी कोटि के प्रयोग हैं। 'जहां वे' भुवन भूषण भूतनाथ है[1] वहीं भूतनाथ वृषभेश्वर संकट विमोचक हैं। अहोरात्र तेजस्वी और कांतिमान रहने वाले मुख के लिये 'वक्त्र' शब्द का ही प्रयोग किया है[2] क्योंकि यह बोलने वाले उपादान के लिये प्रयुक्त है। जहां जिनेन्द्र 'मेरु' से दृढ़ हैं वहां देवांगनायें उन्हें चलित कैसे कर सकती हैं[3]। जिनेन्द्रदेवने मृत्यु को जीत लिया तभी तो मृत्युंजय हैं[4]। संतपुरुषोंकी भाषामें वे अक्षय, अव्यय, परम वैभवसम्पन्न, वचन अगोचर, गुणातीत, अधमरणीय ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्त, अनंगकेतु, योगीश्वर, योगवेत्ता, ज्ञानस्वरूप एवं अमल कहे गये हैं[5]। और आदीश्वर इन सभी शब्दों या विशेषणोंके गुणधारी हैं अतः हर शब्द सार्थक ही नहीं धन्य हो गया है। वे किन गुणों और विशेषताओंके कारण बुद्ध हैं, शंकर हैं, ब्रह्मा हैं इसका विवेचन भी बड़े अर्थ पूर्ण ढंगसे कविने किया है[6]। अरहन्तदेव तो क्षितितलामलभूषण[7] हैं जो रत्नत्रयकी सुरभित-माला अनन्त चतुष्टयके मणिमुकुट जब केवललब्धियोंके अलंकारोंसे सुशोभित हो रहे हैं।

इस स्तोत्रकी भाषा माधुर्य और प्रसाद गुणोंसे युक्त है। वैसे इन गुणोंके साथ भाषाकी ध्वन्यात्मकता एवं संगीतात्मकता मनोमुग्ध करती

---

१. भक्तामर श्लोक १०
२. ,, ,, १५
३. ,, ,, १५
४. ,, ,, २३
५. ,, ,, २४
६. ,, ,, २५
७. ,, ,, २६

है। विभोर होकर भक्त और कवि गा उठता है उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। मैं तो यहाँ तक कहना चाहूँगा कि नयनमूँद कर गा उठने वाले स्वर जैसे साकार उभरने वाले चित्रोंमें खो जाते हैं। यह भाषाकी ही शक्ति है जो भावोंके चित्र खड़े कर दे। विशेषकर अतिशय युक्त वर्णनोंमें यह तथ्य द्रष्टव्य है।

अलंकार योजना स्तोत्रकी कलाकी दृष्टिसे सर्वाधिक सबल पक्ष है, और कुशलता तो यह है कि ये अलंकार लादे गये नहीं लगते हैं, स्वाभाविक होनेसे कलाकी सुन्दरताको सुन्दरतम बनाते हैं। कविने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, व्याजस्तुति, उदाहरण, दृष्टांत, श्लेष अलंकारोंका विशेष प्रयोग किया है। सौन्दर्य, शक्ति और शीलके आधार जिनेन्द्र-देवके रूपकी तुलना कवि अनेक उपमानोंसे करता है—पर सभी उपमान फीके पड़ जाते हैं—उनमें कोई न कोई दोष झलक उठता है। यद्यपि लौकिक रूपसे प्रचलित उपमानोंका स्वीकार अवश्य किया—पर जिनेन्द्र उन सबसे ऊपर हैं। सूर्य, चन्द्र, दीपक, मणि आदि उपमानोंके साथ कविने जिनेन्द्रदेवकी तुलना ब्रह्मा-विष्णु-महेशसे करते हुए उनके नाम और गुणोंकी सर्वज्ञता वीतरागमें प्रतिष्ठित कर दी है। चूँकि इस स्तोत्रका हर पद किसी न किसी अलंकारका उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है—पर समयाभावके कारण हम यहाँ थोड़ोंसे उदाहरणोंको प्रस्तुत करता हूँ। कवि तीर्थंकरकी कंचनवर्णी देह सुमेरुसे एवं जलप्रपातके प्रतीक स्वरूप दोलायमान शुभ्र चँवरको प्रस्तुत कर रूपक अलंकारकी उत्तम योजना करता है[१]। इसी प्रकार छत्रत्रय प्रतिहार्य एवं निर्विकार मानसतत्त्वमें उत्प्रेक्षा दुन्दुभि प्रतिहार्यका प्रयोग है। उपमा अलंकारके अनेक उदाहरण हैं पर कवि जिनेन्द्रदेवकी उपमा क्षीरसागरसे और सरागी देवोंकी तुलना लवणसमुद्रसे करके उनके गुणों पर भी प्रकाश डाल देता है। श्लोक

१. भक्तामर श्लोक (चँवर प्रतिहार्य)

नं. २१ व्याजोक्ति एवं विरोधाभास अलंकारका उत्तम उदाहरण है। श्लोक नं. १० में कविने 'भूतनाथ' शब्द पर सुन्दर श्लेष किया है। कविने कोयल एवं मृगी आदि उदाहरणोंकी योजना करके अपने भावोंको भाषामें पिरोया है। श्लोक नं. ६ एवं ८ में इस प्रयोगको देखा जा सकता है। सच तो ऐसा लगता है कि मुनिकी भक्ति भावना एवं बन्धनमुक्ति स्वयं उदाहरण या दृष्टांत बन गई है।

भक्तामर स्तोत्र भक्तिका काव्य है जिसका मूल भाव भक्ति एवं आराध्य की सेवा-अर्चना है इस दृष्टि से समस्त काव्यको शांतिरसका काव्य ही कहा जायेगा। तथापि कविने कल्पनान्तकाल के पवनसे प्रलयकारी समुद्र वा, उसके भयानक जलचरोंका वर्णन करके भयानक रसको प्रस्तुत किया है[1]। इसी प्रकार क्रोधासक्त मदांध हाथी, एवं क्रोधोन्मतसिंहके वर्णनमें रौद्र एवं भयानक रसकी योजना द्रष्टव्य है[2]। ३७वां श्लोक तो भयानक वीर, रौद्र और करुण रसका समन्वित उदाहरण है। भीमकाय विकराल हाथी में भयानता है तो पराक्रमी सिंह वीरता से युक्त है। तो मदोन्मत्त हाथी के गंडास्थल तो विदीर्ण करनेका दृश्य रौद्रता पूर्ण है और मृत प्रायः गजराज बरबश करुणाको जन्म देता है। इसी प्रकारके रसोंका संगम जिनेन्द्रदेवकी शक्ति वर्णनमें भी चित्रित है जहां वे संग्राम भय विनाशक हैं[3]। जलोदरके रोगीके वर्णनमें करुणा रस उभरा है[4]। चूंकि इन रौद्र, भयानक आदि रसोंका शमन तो प्रभुकी महिमाके शीतल जलरूपी प्रतापसे स्वयं शांतिमें ही परिवर्तित होता है।

'कलापक्ष' संक्षिप्तमें ही पूर्ण कर रहा हूं। उदाहरणोंको प्रस्तुत

---

१. देखो भक्तामर श्लोक ४

२. ,, ,, ,, ३८-३९

करनेकी गुंजाईश कहां ? हां, भक्तामर स्तोत्रका कलापक्ष एक अलगमें निबन्ध तैयार करनेकी प्रेरणा अवश्य मिली है।

अंतमें इतना ही कहकर अपनी बात समाप्त करूँगा कि यह भक्तामर स्तोत्र मात्र काव्य ही नहीं है, अपितु सर्व विघ्न विनाशक, श्री शक्ति प्रदायक आराधना और साधना मंत्र है जो—

"विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनी भूत पन्नागाः।
विषं निर्विषितां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे॥"

पुनः इतना ही चाहता हूँ कि हे जिनेन्द्र मेरे अपने कर्म बन्धन काटनेमें मैं तेरी भक्तिमें कुछ गा-सकूँ...गुनगुना सकूं ऐसी शक्ति दे...भक्ति दे।

'वंदनं यो जिनेन्द्राणां, त्रिकालं कुरुते नरः।
तस्य भावं विशुद्धस्य, सर्वं नश्यति दुष्कृतं॥'

हे आदि तीर्थंकर, हे भक्तामरके कर्ता मानतुंगाचार्य आपके चरणोंमें वंदन।

जैनम् जयति शासनम्।

आत्म-परिचयके दस लक्षण

सभी जीव सुखकी आकांक्षा रखते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि
या आकांक्षा मात्रसे सुख मिल जायेगा? तब हम क्या करें? तो स्वयं
ह उत्तर मिलेगा कि हमें इस सुखके लिए प्रयत्न करने होंगे। आत्माके
च्चे स्वरूपको परखना होगा। सर्व प्रथम हमें यह स्पष्ट जानना होगा
क यह शरीर पुद्गल है और आत्मा चेतनस्वरूप सच्चिदानन्दरूप है।
ौर जब यह स्पष्ट ज्ञान हो गया कि शरीर पुद्गल अर्थात् जड़ है और
ात्मा चेतन है तब यह बात समझमें आई कि जड़ और चेतन कभी
क नहीं हैं। दोनोंके स्वभाव भिन्न हैं। जड़ नष्ट होनेवाला तत्त्व है—
तन अमर है।

परन्तु इस भेदज्ञानके अभावमें मैं इस जड़ शरीरमें ही अपनेको
न्द्रित करके इसे ही सजाता-संवारता रहा। इसके लिए मैंने राग-द्वेष
िये। विषय-वासनाओंमें डूबा रहा। और परिणाम बड़ा भयंकर आया।
क दिन यह जड़ तो नष्ट हो गया पर मैं चेतनको समझ ही न सका।
ेतनके प्रज्वलित दीपके प्रकाशसे मैं वंचित रहा क्योंकि चार कषायकी
ीवार अपनी कालिमासे उसे आच्छादित किए थीं। वासनाका अन्धेरा
से ढंके था। और इन्हीं कषायोंने वासनाओंने मुझे आत्म-साक्षात्कार
हीं करने दिया।

चतुर्गतियोंमें भटकाया और अनन्तवार जन्म-मरणके लिए बाध्य
िया। लेकिन जिसे एक बार भी भेदविज्ञान हो गया उसके सामनेसे
ालिमाकी दीवारें ढह गईं। प्रकाशका अनन्त पुंज बिखर गया और
ही आत्माके स्वरूपको निरख सका। शरीरके ममत्वको छोड़कर साधनाकी
ीढ़ी पर पांव रखकर आत्माके द्वार तक पहुँच सका।

भाई! मूलतः इस आत्माका
क्षणोंसे परिचित होना है।

आत्माके ये मूल गुण हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य। वैसे हर गुणके विषयमें एक विषय व्याख्यान या लेख प्रस्तुत किया जा सकता है, पर यहाँ संक्षिप्तमें ही उनकी बात करूँगा। क्षमासे ब्रह्मचर्य तककी समझ अर्थात् आत्मासे पूर्ण परिचय। यह पृथक्करण बड़ा ही वैज्ञानिक एवं उत्तरोत्तर आत्माके लक्षणोंका व्यवस्थित परिचय करानेवाला है।

बन्धुओ ! आचार्योंने सर्व प्रथम 'क्षमा' को स्थान दिया है। जब तक व्यक्तिके मनमें क्रोधका भाव रहेगा तब तक उसे शांति कहां है।

क्रोध करनेवाला सर्वप्रथम स्वयंको कष्ट देता है। उसकी मानवीयताके ऊपर पशुता हावी हो जाती है। उसका मृदु चेहरा कठोरतामें परिवर्तित हो जाता है। सद्विचारोंका स्थान कुविचार-गालीगलौज ले लेते हैं। विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। निरन्तर ऐसा आदमी दूसरेका अहित करनेके कुविचारोंसे ग्रसित हो जाता है और बेचैन रहता है। इससे वह शरीरको क्षीण बनाता है। समाजमें प्रतिष्ठाको खो देता है और आत्माको रौद्रताके कारण दुःखी बनाता है।

मतलब कि जैसे किसी पूजनके प्रारम्भसे पूर्व भूमिका शुद्धि करण आवश्यक है वैसे ही आत्माके अन्तिम गंतव्य ब्रह्मचर्य तक पहुंचनेके लिए क्षमाके शीतल और पवित्र जलसे इस आत्माकी भूमिको पवित्र बनाना है। शक्ति होते हुए भी कष्ट सहकर क्षमाशील रहना—आत्माका मूल प्रथम गुण है। नींवकी ईंट है।

क्रोधी व्यक्ति अभिमानी होगा। उसमें मृदुता नहीं होगी। अर्थात [illegible] रहित होगा। सीधे-सादे शब्दोंमें कहें तो अभिमानी होगा। [illegible] गुण है मार्दवभाव अर्थात् निरभिमानता। हम सभी मान [illegible] कारण ऊंच-नीच सुन्दर-शक्तिशाली, ज्ञानी आदि होनेके [illegible] डूबे रहते हैं। अपने कथित मानकी रक्षामें दूसरोंको तुच्छ [illegible] इसी छोटेपनके ख्यालोंमें डूबे रहते हैं। जरासे भी

अहंकारको ठेस लगते ही हम फूफकारते ही नहीं डंसनेको तैयार हो जाते हैं। और 'मद' में डूबकर नशेसे भ्रष्ट होकर हम आत्माके स्वरूपको पहिचान ही नहीं पाते। मानी पुरुषका हर कार्य चाहे ऊपरसे सत्कार्य लगे परंतु उसमें अहंकारका विष रहता है यही अहम् उस ओंकार तक पहुँचनेमें सबसे बड़ी बाधा बनता है।

आत्माका तीसरा गुण है निष्कपटता अर्थात् ऋजुभाव, आर्जभाव। कपटी आदमी सदैव अविश्वाससे पीड़ित रहता है। वह निजी स्वार्थमें ऐसे कार्य करनेसे नहीं चूकता जिससे दूसरोंको पीड़ा पहुंचे। वह सदैव शांत रहता है। अरे! यदि कभी कोई व्यक्ति निःस्वार्थ भावसे कपटीकी मदद भी करता है तो कपटी उस मददमें भी कपट ही निहारता है। कपटी पुरुष मायावी होता है। छलना ही उसका कार्य होता है। और कपट भेद खुलने पर उसकी प्रतिष्ठाको आंच आती है...उसकी प्रतिष्ठा गिर जाती है। कपटीके समस्त व्यवहार दाव–पेचमें ही वीतते हैं। उसे आत्म-कल्याणका अवसर ही कहां है। यह माया नामक कषाय तीसरी काली दीवार है जो आत्माके प्रकाशको घेरे है। आत्माका गुण तो निष्कपट एवं निर्मल है।

चौथी काली दीवार है लोभ अशुचि वृत्ति। आत्माका गुण है शौच भाव या शुचि भाव। व्यावहारिक दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि शरीरका बाह्य शुचि भाव आवश्यक है। गृहस्थके लिए बाह्य शुद्धता भी आवश्यक है पर मात्र बाह्य शुद्धि जो इस पुद्गल मात्रकी शुद्धि है वह आत्माका मल शुद्ध भाव कैसे हो सकता है? अतः निश्चय स्वरूप पर विचार करें तो अन्तर शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर शुद्धिका मतलब यही है कि हम कषायोंसे मुक्त बने। हमारी इन्द्रियोंमें जो लोभ दृष्टि भर गई है उससे मुक्त बने। लोभ समस्त पापोंका जनक है। जहां लोभने जन्म लिया–वहीं सारे दुर्गुण अंकुरित हो जाते हैं और मनुष्य लोभ दशामें अनेक अनर्थ करता है। धन संग्रह तो उसका एक लक्ष्य बनता ही है

चेतन स्वरूप आत्माका ध्यान ही नहीं होने दिया। लेकिन जिसने इस संयमके मर्मको जाना उसने साधनाके द्वारा इन मोक्षमार्गके रोड़ों पर पांव धरकर उन्हें कुचल दिया। इन्द्रियोंको वशमें किया। भले ही तपस्यामें शरीर क्यों न सूख गया हो। और जिसकी इन्द्रियां वशीभूत हो गईं वही जितेन्द्रिय बन गया। इच्छाओंके दासत्वसे वह मुक्त हो गया। फिर उसे स्वादिष्ट भोजन और सुन्दरी अप्सरा भी नहीं डिगा सकी। संयमित होनेका अर्थ ही है बाह्य भोगोंकी वासनासे, भटकावसे अन्तर जगतकी ओर मुड़ना आत्मकेन्द्रित होना।

जितेन्द्रियताका गुण धारण करने वाली यह आत्मा क्रमशः ईश्वरको पानेके लिए लालायित होने लगती है। जिसे अब भोगोंकी लालसा नहीं। जो अपना स्वामी हो गया वह तपस्याकी ओर अग्रसर होता है। 'तप' आत्माका उच्च लक्षण है। आचार्योंने कहा इच्छाओंको रोकना ही तप है। इसे मैं यों कहूँ कि संयमको दृढ़ बनाना अर्थात् इन्द्रियों पर संपूर्ण काबू प्राप्त करनेके लिए इच्छाओंका दमन करना ही नहीं अपितु उन्हें जन्मने ही न देना सो तप है। यहां पंचाग्नि तपना आदिकी बात नहीं है। न ही भौतिक सुखोंके लिए की जानेवाली साधनाका ही महत्त्व है। यहां उस तपस्या या तपकी बात है जिसमें इन्द्रिय विजय प्राप्त कर मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त किया जा सके, जिसके लिए देवता भी लालायित हैं।

ऐसी तपस्या मनुष्य हो, इन्द्रिय विजय द्वारा कर सकता है। आचार्योंने आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकारके तपोंका महत्त्व स्वीकार किया है। बाहरी तप करके आंतरिक तपकी ओर हमारी गति होनी चाहिए। गृहस्थ और साधू अपनी श्रेणीके अनुसार इसे करते हैं। युगोंसे बँधे कर्मोंकी संवर तो इस तपसे होता ही है निर्जराका यही उच्च माध्यम है। वज्र कर्म इसीसे कटते हैं। जहां व्यक्तिका मन ब्रह्ममें लीन होने लगे बाह्य सुख-दुःखसे परे आत्म-कल्याणमें खोना शुरु कर दे-वहींसे तपस्याकी दृढ़ता आने लगती है। साधारण पूजा-अर्चना स्वाध्याय, सामायिकसे

इसका प्रारम्भ किया जाता है और घोर उपसर्ग सहन करने तक इसका विकास होता है।

तपस्यामें लीन आत्मा अब उस श्रेणी पर प्रस्थापित है जहां उसे अब लेना नहीं है–मात्र त्यागना है। और यह त्याग उसकी अगली सीढ़ी है। इस स्थितिमें अब बाहरी त्यागकी बात समझी है क्योंकि तपस्या तक पहुँचते–पहुँचते हम लोभ रहित, संयमी हो ही चुके हैं। वैसे व्यावहारिक दृष्टिसे हमें वे सभी बाह्य साधन–सामग्री त्याग देने चाहिए जो हमें विकारयुक्त बनायें हमारी तपस्यामें बाधक बनते हों। हममें वासनाओं को उत्पन्न करते हों। तपकी ओर अग्रसर गृहस्थ भी बाह्य उपकरणोंको छोड़ने लगता है। वह वस्तुके त्यागसे प्रारम्भ कर भोजन आदिके त्यागकी ओर मुड़ता है। और साधु अवस्था तक पहुंचकर सभी उपकरणोंसे मुक्त हो जाता है।

एक लंगोटीकी चाह भी नहीं रहती। पर त्यागका महत्त्व इतनेमें ही पूरा नहीं होता। मात्र नग्नत्व ही एक मात्र त्याग नहीं परन्तु आत्माके साथ जुड़े हुए उन सभी पर पदार्थोंका त्याग करना है जो तपस्यामें बाधक हैं। जो आत्माको व्याकुल बनाते हैं। त्यागी वही है जो सब कुछ छोड़कर प्रसन्नतासे भर उठे। अरे! जैन धर्म तो मात्र पाप ही नहीं पुण्यको भी त्यागनेका आदेश देता है क्योंकि वह भी बन्धका कारण है। इस प्रकार तपकी ज्वालामें इन विकारोंको जलाना है, त्यागना है। त्यागकी ही यह महिमा थी कि बड़े बड़े राजा महाराजा, राजकुमार वैभवोंको ठोकर मारकर आत्म-कल्याणके पथ पर चल पड़े।

आकिंचन आत्माका उज्ज्वल गुण है। मैं इसे तप और त्यागकी शृंखलाका ही गुण मानता हूँ। जहां किंचित् या एक अणुभार भी ममत्व या लोभ शेष न हो। वैसे तपस्याकी अग्निमें तपी हुई आत्मा जब कुन्दन बन जाती है उसमेंसे बाह्य लोभ और आन्तरिक विकारोंका तिरोहण हो जाता है तब वह स्वयं ममत्वसे परे हो जाती है। उसमें फिर

जगतके प्रति कोई लोभ-लालच नहीं। इस अवस्थामें पहुँचकर आत्मा दर्पणसी साफ और पवित्र हो जाता है। मैं यों कहूँ कि तप-त्यागसे तप पूत आत्मामें जब किंचित भी विकार, एषणा, ममता नहीं रहती तब यह गुण प्रगट होता है।

किंचित् भी जिसमें विकार नहीं है, जो संपूर्ण त्यागी और तपस्वी है। विकारोंका जिसमेंसे नाश हो गया है। संसारसे जो मुक्तिका आभास प्राप्त कर रहा है जो पाप–पुण्य सुख–दुःखसे उपर है ऐसा जीव ब्रह्ममें रमण करने लगता है अर्थात आत्माके अंतिम सोपान ब्रह्मचर्यमें प्रवेश करता है।

ब्रह्मचर्य अर्थात आत्मामें रमण करना। 'स्व' में प्रस्थापित होना। जब क्षमासे आकिंचन तक उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ जीव निर्भार हो जाता है तब वह संपूर्ण रूपसे बाह्य जगतसे हटकर अन्तर जगतमें प्रवेश पा जाता है। यही उसकी ब्रह्ममें रमण करनेकी प्रक्रिया है। अर्थात् वह केवलज्ञानसे युक्त हो जाता है।

व्यावहारिक दृष्टिसे भोगविलासके प्रति संयम रखना ब्रह्मचर्य माना गया है। पेटकी भूखकी तरह ही शरीरकी भूख 'काम' की तृप्ति सर्वाधिक तीव्र वृत्ति है–जिसको जीतना सबसे कठिन है। अच्छे-अच्छे तपस्वी इस 'काम'के कारण भ्रष्ट हो गए। सौन्दर्यका लोभी व्यक्ति सदैव इस कामसे पीडित रहता है। स्त्री और पुरुष दोनों इसी काम-ज्वरसे पीडित हैं। संभोगका लोभ उसे इतना अन्धा बना देता है कि कभी-कभी वह उसके लिए बड़ेसे बड़े अनर्थ कर बैठता है। पवित्र रिश्तोंको भी भूल जाता है। समाजमें आज भी कामी पुरुष पर कोई विश्वास नहीं करता। उससे घृणा करते हैं। उसकी कोई इज्जत नहीं होती।

शास्त्रकारोंने एक पत्नी–पति व्रतको भी ब्रह्मचर्यमें माना है। परन्तु जहां संयमसे इन्द्रियों पर विजय पा ली, तपसे तपे यहां इस शारीरिक भोगसे ऊपर उठकर आत्मस्मरणकी बात ही मुख्य है। यही वह अवस्था है। जहां स्व-परका भेद मिट जाता है। जहां आत्मा स्वतंत्रता,

निश्चलता एवं निष्कामताका बोध करने लगती है। यहीं पर पहुँचकर ज्ञाता-दृष्टाका बोध होता है। परकृत परिणाम हट जाते हैं। इसी ज्ञानस्वरूप आत्माको पाकर हम मोक्षको पा लेते हैं जो हमारा परम लक्ष्य है।

इस प्रकार आत्माके ये दस गुणधर्म हैं।

यह ठीक है कि अपनी सुविधाके लिए हमने इन्हें क्षमासे अकिंचन्य तक रखा। परन्तु इन दसों लक्षणोंको एकके बाद एक न रखकर गोलाईमें रखें तो कोई फर्क नहीं पड़ता। वैसे ये सारे लक्षण एक दूसरेके पूरक हैं ऐसा नहीं है कि हम एक गुण पालें फिर दूसरे पर जायें पर हकीकत तो यह है कि सभीका प्रारंभ एक साथ होता है। देखिए जहां क्षमागुण आवेगा वहां फिर मान रहेगा ही नहीं। जहां मान नहीं वहां किसीके प्रति कपटका भाव जन्म भी नहीं लेगा। इन तीन गुणोंसे व्यक्तिमें आत्म-संतोष और शुचिता प्रगटेगी। सत्य बोलनेमें उसे बाधा न होगी क्योंकि फिर न उसे अपने अभिमानकी रक्षा करनी है और न कपट करना है।

संयम उसे इन्द्रियोंके वशीकरणमें लगाता है तप-त्याग द्वारा वह इन्द्रिय संयमको मजबूत करता हुआ उन विकारोंको त्यागता है जो किंचित भी उसे चलित करते हैं। वह सर्वथा अकिंचन यानि विकार रहित हो जाता है। और ऐसे सर्व गुणोंका धारक अपनी आत्माको खोज लेता है। इसी आत्माके सच्चे दर्शन पाकर वह मोक्षकी ओर प्रयाण करने लगता है।

यों कहूं कि आत्मपरखकी कसौटी ये दस धर्म हैं। या आत्म-परिचयके ये दस लक्षण हैं। इन्हींके द्वारा हम आत्माके सही स्वरूपको जानकर इस भव-भ्रमणसे छूटनेका प्रयास करते हैं।

इस आत्माकी साधनाके लिए चारित्र' धारण करना नितांत आवश्यक है। मैं समझता हूँ कि मोक्षमार्गका सबसे प्रबल मार्ग चारित्र है।

बोझसे धरती अकुलाने लगती है, दिशाओंकी हवामें जहर घुलने लगता है। तब वही धरती किसी महावीरको जन्म देती है। धरती ऐसे ही दर्दकी टीसका अनुभव कर रही थी। धुंधाच्छादित पूर्व दिशामेंसे एक किरण फूटी जिसने तिमिरको चीरनेका प्रयास किया। एक दिन यही किरण प्रकाशका पुंज बन गई और हिमाच्छादित इस देशको प्रकाश दिया, ऊष्मा दी। यही किरण थी—महावीर, वीर, वर्धमान, सन्मति और महावीरके पांच गुणोंसे विभूषित पांच नामोंके धारक महावीरकी। महावीरका जन्म एक क्रांति थी। उनका नया दृष्टिबिन्दु प्रस्तुत करना एक क्रांति थी। चिरप्रतीक्षित मानवोंको जैसे आधार मिल गया। पथ भूले राहियोंको सही राह और हम सफर मिल गया। धर्मके नामसे डरे हुए लोगोंको निर्भयताका वरदान मिल गया। गिरे हुए लोगोंको मानवताके नाम पर जीनेका सहारा मिल गया। लंबे अर्सेसे धर्मके नाम पर जो भय फैला था, अंधविश्वासोंका जो कुहरा छाया था उसमेंसे मानव मुक्त होनेके लिए छटपटा रहा था। तत्कालीन त्रसित जन-समाज किसी ऐसे नेताकी खोजमें थी जो वीर हो–धीर हो–गंभीर हो। इधर व्याकुल जन समाज नेता चाहती थी—उधर लोगोंकी कराहें और आहें, मूक पशुओंकी बहती अश्रुधाराने महावीरके हृदयको झकझोर डाला। हिंसाके वातावरणमें हिंस्र लोगोंके बीच उसने अपनी आवाज बुलंद की। हिंसाका डट कर विरोध किया। यज्ञोंके नाम पर हत्याओंका विरोध किया। कितना साहस था! अरे! जब चारों ओर धर्मके नाम पर हिंसा हो रही हो, जब जाति-पाँतिके नाम पर शोषण हो रहा हो। जब व्यक्ति-व्यक्तिमें सेठ-गुलामके भेद हों...जब सभी एक ही स्वरमें स्वार्थके ही गीत गा रहे हों उस समय सबसे अलग बात करना क्या किसी साधारण कमजोर व्यक्तिका काम हो सकता है? सच तो यह है कि इस गहन तिमिरको चीरनेका कार्य सूर्यकी किरण ही कर सकती है और वह किरण थी महावीरकी वाणी।

महावीरकी वाणीको गूंज उन दुखियोंने सुनी, उन भयभीत लोगोंने

और भी उग्र है। हिंसाका वातावरण पहलेसे अधिक है। अरे! भाई आजके युगकी प्रधान समस्या ही युद्ध बन गई है। आज विश्वमें शास्त्रोंकी होड़ बढ़ रही है। इस युद्धके यज्ञमें लाखों नहीं करोड़ों आदमियोंका बलिदान किया जा चुका है। जापानका बम विस्फोट क्या हम भूलेंगे? मानवकी वह राक्षसी खूनकी प्यास अभी बुझी है? वियेटनामके युद्ध या विश्वके किसी भी कोने पर नजर डालिये कहीं भी शांति है? सभी जगह युद्ध हो रहे हैं। धर्मके नाम पर हिन्दु-मुसलमान, मुसलमान ख्रिस्ती, हिन्दु-जैन सभी एक दूसरेके रक्तके प्यासे हो जाते हैं। भाषाके नाम पर खून बह जाता है। प्रदेशके नाम पर गोलियाँ चल जाती हैं। आज भी गुलामी–प्रथा चालू है। आज भी श्वेत लोग कालोंसे घृणा कर रहे हैं। आज शोषणकी परंपरा बढ़ती ही जा रही है। कैसी विडंबना है कि एक ओर सौन्दर्यप्रसाधनों, भोग-विलास, नाच-रंगों में पैसा पानीकी तरह बहाया जा रहा है—दूसरी ओर एक समय भरपेट सूखी रोटी और नमकके लिए लोग तरस-तरसकर मर रहे हैं। कभी एक धर्म पर दूसरा धर्म हावी न हो जाये इसका झगड़ा था—आज एक विचारधाराको दूसरी पर लादनेका घोर उपक्रम किया जा रहा है। आजकी राजनीतिका दंभ तो देखिये बड़े-बड़े अणुविस्फोट सिर्फ यह कह कर किये जा रहे हैं कि शांति के लिए वे जरुरी हैं। हँसना आता है इनके विधान पर और तरस आता है इनकी बुद्धि पर। आज भी जाति-पाँतिके ऊँच-नीचके भेद कहाँ मिटे हैं। आज भी व्यक्ति चमार या ब्राह्मण, अमीर या गरीब, गुजराती या महाराष्ट्रीयन, एशियाई या अमेरिकन, जैन या हिन्दुके रूपमें जीवित है। क्या वह व्यक्तिके रूपमें जी पा रहा है?

सज्जनों! गौरसे देखें, गहराईसे विचार करें तो वे सभी समस्यायें आज भी यथावत् अपने बदले हुए रूप या नामके साथ अधिक विकराल रूप धारण करके खड़ी हैं।

स्वतंत्रताके आन्दोलनके समय गांधीजीने इस सत्यको जाना था।

[illegible] लिए आवश्यक मानते थे।

हाँ, तो सज्जनों अभी तक मैंने आपके सामने संक्षेपमें महावीरके युगकी और वर्तमान युगकी समस्याका संक्षिप्त चित्रण किया। भगवान महावीरके मुख्य सिद्धांतोंका उल्लेख किया और अब मैं विषयके उत्तरार्द्धकी ओर आपको ले चलूँगा—कि आज महावीरका कैसे मूल्यांकन करूँ ?

बंधुओ! मुझ जैसा अल्पबुद्धि महावीरका मूल्यांकन क्या करेगा। हाँ, इतना ही कह सकता हूँ कि आजके युगमें भगवान महावीरके सिद्धांत कितने उपयोगी हैं। मैं तो यहाँ तक दावेके साथ कह सकता हूँ कि विश्वशांति और वसुधैवकुटुंबकंकी भावना भगवान महावीरके आदर्शोंको अपनानेसे ही सम्भव है।

संसारका हर मानव सुख-शांति चाहता है। वह जीना चाहता है। उसके अंतरमें सुगबुगाता प्यार वह व्यक्त करना चाहता है। पर जिनके पास शक्ति–सत्ता है वे कब सभीको जीने देना चाहते हैं ? अपने अहम्‌की पुष्टिके लिए वे कितनोंका अहम् खंडित करते हैं। अपने सुख मात्रकी उन्हें चिन्ता है। यही कारण है कि समाजमें भय, विद्रोह और कलहका जन्म होता है। इसीलिए तो महावीरका यह सिद्धांत ' जियो और जीने दो ' उपयोगी है। मानवोंमें प्रेम बढ़े, परस्पर मैत्री-सहकार, सुख-दुखमें सहभागी

होनेकी वृत्ति बढ़े यही इसका भाव बोध है। करुणाके संचारसे ही प्रेम-वात्सल्यका जन्म होता है। मैं समझता हूँ कि जिस तेजीसे दूसरोंको मारकर जीनेकी स्पर्धा आज चल रही है, उसमें यही सिद्धांत आवश्यक है।

आजके युगकी सबसे बड़ी परेशानी है नेतागिरी। हर आदमी दूसरोंको उपदेश देने निकल पड़ा है। हर आदमी यह चाहता है कि उसकी बात ही सब माने। अहम्‌से पीड़ित आजका आदमी स्वयंको पूर्ण सत्यवक्ता मान बैठा है और इस तथाकथित सत्यको मनवानेके लिए वह हिंसा, झूठ और कपटका आश्रय ले रहा है। अपना मत दूसरों पर लादना भी तो सूक्ष्म हिंसा ही है। साथ ही दूसरे खराब ही हैं ऐसा मानना भी दंभ है। फिर क्या हो? ऐसा प्रश्न खड़ा होता है। तब उत्तर भी स्पष्ट है कि किसी भी समस्या पर, मान्यताओं पर पारस्परिक वैचारिक आदान-प्रदान होना चाहिए। चर्चाके माध्यमसे हमें स्वयं स्पष्ट होना चाहिए और दूसरोंको मधुर भावसे अपनी बात समझानी चाहिए। दूसरेके दृष्टिकोणको समझना चाहिए। चर्चामें पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए। इसी स्याद्वादकी भावना महावीरने लोगोंको समझाई थी। आज इस भावनाकी महती आवश्यकता है। यदि आजका मानव अपने अहम् अपनी जिदको छोड़ दे, हर व्यक्तिके विचारोंपर विचार करे तो निश्चय ही समस्याओंका समाधान हो। पर टेबल टॉक Table-TalK भी पूर्वाग्रह युक्त ही हो रहे हैं।

आजके युगकी यदि एक समस्या युद्धकी समस्या है तो आजके युगकी ही दूसरी महती समस्या शोषण की है। आप देखिए पूरा विश्व आज शोषणके नागफांसमें फँसा है। समाज शोषित और शोषकके दो वर्गोंमें विभाजित हो गया है। इसकी जड़में परिग्रहका विष पनप रहा है। पैसेवाला और भी अधिक पैसोंके लिए निरंतर दूसरोंका शोषण कर रहा है। गलत तरीकोंको अपना रहा है। परिणाम बड़ा घृणास्पद है। एकके घर पैसोंकी बौछार हो रही है और दूसरा पैसोंके लिए मुँहताज है।

इससे उस विस्फोटकी भूमिका तैयार होती है जिसका नाम रक्तयुक्त क्रांति हो सकता है। असहाय, पीड़ित, क्षुब्ध जनसमूह जब भूखों मरनेके बजाय भूखे रखनेवालोंके प्रति आक्रोपसे भर जाता है तब वह शोषकोंको मार डालने पर उतारू हो जाता है। पेटकी भूख उसे मजबूर करती है इस रक्तपानके लिए। कार्लमार्क्सकी इसी पुकार पर लेनिन दुनियाके मजदूरों और भूखोंको इकट्ठा कर सका था...और युगोंसे पीड़ित इन नंगे-भूखोंने लाखों अमीरोंको खत्म कर दिया था। चूँकि भारत धार्मिक संस्कारों, कर्मवाद एवं भाग्यवादमें विश्वास करनेवाला देश है। यह भी सच है कि वह इन्हीं शब्दोंके जालमें उस क्रांतिका अगुआ नहीं बना। पर सत्य और वास्तविकताकी हवाको कब तक रोका जा सकेगा? भारतमें [illegible] तेजीसे साम्यवादका विकास हो रहा है। नक्सलवादका उदय इन्हीं [illegible] उत्पन्न है जिसमें रोटीके लिए अभ्यागतोंकी चोटी उड़ा देनेकी [illegible] है। यदि हम चाहते हैं कि ऐसा क्रूर समय न आवे तो हमें भी [illegible] उस मार्ग पर चलना होगा जिसमें शोषणका कोई [illegible] है। जिसमें [illegible] मात्रका [illegible] अधिकारकी बात है। जहाँ [illegible]

[illegible]

उन्हें इतना प्रशिक्षित नहीं किया जिससे जीनेका आत्म-सम्पन्न उनमें पनपता। मुझे लगता है कि सभी सरकारोंने हरिजनोंको बेवकूफ बनाया उन्हें चुनावके हथियारके रूपमें प्रयुक्त किया। यदि हम सचमुच इस कलंकको मिटाना चाहते हैं तो हमें निस्वार्थ भावसे हरिजनोंमें सद्संस्कार, आत्मसम्पन्नके भाव एवं उच्च विचारों द्वारा परिष्कृत करना होगा। उन्हें अन्न-वस्त्र एवं मकान देने होंगे। हमें महावीरकी उस वाणीको अपनाना होगा जिसमें कहा है:—

"तुम खुद जियो जीने दो जमानेमें सभीको
अपनेसे कम न समझो दुनियामें किसीको।"

भगवान महावीर सा क्रांतिकारी आज चाहिए। आज भगवानोंकी भीड़ बढ़ रही है पर दुखियोंके आंसू पोछनेकी किसे फुर्सत है। अपरिग्रहका उपदेश देनेवाले मठाधीश बनते जा रहे हैं।

भगवान महावीर सी करुणा आज कहाँ है? कि एक सांप काटे पर दूध ही निकले। बंधुओ! दूधका निकलना एक प्रतीक है। इसका [illegible] तो यह है कि सांप अर्थात दुष्ट अपनी दुष्टता से सज्जन पुरुषको काटे पर सज्जन पुरुष दुष्टका आवश्यक भोजन दूध ही दे। उस दुष्टको [illegible] नहीं पर दूधका पेय देकर तृप्त करे...उसके अन्तरको बदले। [illegible] और [illegible] अधिक प्रिय है—यही जगह कहाँ [illegible] और आप जान सकते हैं कि भगवान महावीरको [illegible] [illegible]। [illegible] या तो अतिशय मान [illegible] [illegible] एक मनगढ़ंत कहानी। पर वैज्ञानिक [illegible] [illegible] जा सकता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

हृदय में चराचर विश्वके प्रति करुणा-वात्सल्य भरा हो उसके शरीरका सारा रक्त दूध बन जाये तो इसमें अतिशयोक्ति क्या है ?

कानमें कीले ठोके जायें फिर भी क्रोध न आये ऐसा कोई शासक होगा ? अरे कीलों की बात छोड़िये यदि अपमान पीना भी सीख लें तो अहम् छूट जायेगा। क्रोध दब जायेगा और बड़े-बड़े अनर्थ रुक जायेंगे।

राजकुमार वर्धमानने संसारको सुखी देखने के लिए वैभव छोड़ा। १२ वर्ष तक तपस्या की शरीर सुखा डाला तब कहीं महावीर बने। आज ऐसे ही निस्पृह शासकों की आवश्यकता है जो इतनी तपस्या न करे पर ईमानदार और भ्रष्टाचार से मुक्त हो।

धार्मिक दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि आत्मकल्याणके लिए कर्मों की निर्जराके लिए तपस्या आवश्यक है। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र आवश्यक अंग हैं। यह सच भी है। पर मात्र आत्मकल्याण ही तो महापुरुष नहीं करते। आत्मकल्याणके साथ जनकल्याण, विश्वकल्याण के भाव भी निहित रहते हैं। भगवान महावीरने केवलज्ञान प्राप्त करके ही तो देशना दी थी। विहार किया था। धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था।

चूँकि हमारा आजका विषय मात्र जैनधर्मके दायरेका नहीं था। हम वर्तमान के संदर्भोंके अरीसे में भगवान महावीरके सिद्धांतोंको परख रहे थे। अतः चर्चाका बौद्धिक होना स्वाभाविक था।

हम मोक्ष में न जा पायें तो कोई बात नहीं। उस पथके पथिक बने यही क्या कम है ? हम भगवान न बने कोई बात नहीं एक अच्छे इन्सान बने यह क्या कम है ?

अंतमें अपनी बातको पुनः दोहराता हूँ कि वर्तमान राजनीतिका आर्थिक सामाजिक समस्यायों का निदान भगवान महावीर द्वारा निर्देशित मार्ग ही हो सकता है और आत्मकल्याण भी।

स्वाध्याय

स्वाध्याय प्रेमी बंधुओ ! मैं 'स्वाध्याय' के विषयमें आपसे बात करूँगा। वैसे आप सबके लिए यह शब्द नया नहीं है तथापि मैं अपनी बातको कुछ विशेष स्पष्टताके साथ रखनेका प्रयास करूँगा। सामान्य रूपसे स्वाध्याय अर्थात् पठन-पाठन आदि होता है। जिसमें अनुशीलनका बोध निहित है। मैं यों समझता हूँ कि 'स्व' के साथ 'अध्ययन' की भावना यहाँ जुड़ी हुई है।

भारतीय पुरातन संस्कृतिका विकास उसकी सामाजिक व्यवस्थाके विकासकी कहानी है। और सामाजिक विकासमें उसका नियमबद्ध आचरण या एक व्यवस्था रही है। जहाँ तक संयत या व्यवस्थाका प्रश्न है वह उस पर लादी नहीं गई थी। ईश्वरकी ओरसे सविशेष रूपसे प्रदत्त बुद्धि और वाणीका वरदान उसे सदैव दूसरोंके प्रति स्नेहल बनाये रहा। अपने सुखके साथ उसने सदैव दूसरोंके सुखकी आकांक्षा की, दूसरोंके सुखका ध्यान रखा और यही वह वृत्ति थी जिसने समाजको एक तंत्रमें आबद्ध रखा। यह और बात है कि कालांतरमें उस पर नियमोंको लादना पड़ा। हमने स्वराज्यके साथ 'स्वतंत्र' के भाव स्वीकार किए। 'स्वतंत्र' शब्दमें हम दूसरोंकी गुलामीका अस्वीकार करते हैं पर अपने तंत्रमें रहनेके आनंदको स्वीकार करते हैं। यहाँ यह बोध होता है कि सामाजिक व्यवस्थाके लिए यह आवश्यक रहा है कि व्यक्ति 'स्व' के द्वारा निर्मित नियमोंका पालन करे। कथित जंगली अवस्थासे वर्तमान विकासकी अवस्था तकके सभी चरणोंमें उसकी 'स्व' द्वारा निर्मित विधि विधानोंके [illegible] विकासकी ही कहानी निहित है। आज समाजमें जो प्रेम, [illegible] सहयोग, सुख-दुखमें साथ देनेका भाव आदि जो नियम हैं [illegible] 'स्व' निर्मित नियम हैं। एक उत्तम व्यवस्थाके प्रतीक हैं। [illegible] समाज या व्यक्तिने इन 'स्व' [illegible] नियमोंका भंग किया-

एक अराजकता फैली। और जब-जब उसके स्वतंत्र पर किसीने परतंत्र कुछ लादना चाहा-उसने जोरदार प्रतिकार किया। हम स्वतंत्र या स्वाधीन रहनेके आदी हैं—हमें परतंत्र-पराधीन रहना कभी नहीं आया। इसी स्वतंत्र और स्वाधीन शब्दसे मिलता जुलता शब्द स्वाध्याय है। मैं इस स्वाध्याय शब्दको दो अर्थों में देखता हूँ। प्रथम तो साधारण अर्थ स्वयं अध्ययन करना है और दूसरा गहन अर्थ होगा स्व अर्थात् आत्मा और अध्याय अर्थात् मनन। समग्र अर्थ यो होगा आत्माके विषयमें मनन-अध्ययन करना या आत्मचिंतन करना। इस चर्चामें मेरा प्रतिपादन गहन अर्थ पर ही विशेष रूपसे रहेगा।

हम सभी जानते हैं कि किसी भी ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए हम श्रवण-वांचन-मनन-पठन आदि क्रियायें करते हैं। किसी गुरुसे प्राप्त ज्ञानको हृदयगम करनेके लिए हम स्वयं उसका पठन करते हैं, उस पर मनन करते हैं और उस ज्ञानको आत्मसात् करते हैं। यही स्वयं आत्मसात् करनेकी क्रिया ही स्वाध्याय है। किसी विषयको स्वयं समझनेकी प्रक्रिया पठन-पाठन आदिका इसमें समावेश हो जाता है। चर्चा परिचर्चा, विचारोंका आदान-प्रदान इसके अन्तर्गत आ जाता है। और इसे ही हम सामान्य अर्थमें स्वाध्याय कहते हैं वैसे मंदिरोंमें शास्त्र प्रवचन करना, सुनना या पढ़ना भी इसी कोटिमें सम्मिलित है।

अब मैं अपने विषयके मुख्यांश या गहन अर्थ पर विचार करूँगा। अब मेरा स्वाध्यायसे भावार्थ होगा आत्मचिंतन। बंधुओ! अनादिकालसे यह आत्मा कर्मोंके कारण भटक रही है। इसने कितने जन्म धारण किए...कितनी बार मृत्युके दुखको झेला, किन-किन योनियों और गतियों में भटका इसका इसे अभी भी कोई ज्ञान नहीं। मूढ़ता तो देखो इसकी कि पुद्गलके आधीन हो गया। पंचेन्द्रियोंका गुलाम बन कर मृगमरीचिका-वत् संसारके सुखोंको, भोगोंको अंतिम सत्य मान बैठा। इसकी स्थिति रही मँकड़ीकी तरह जो अपने ही जालमें उलझती गई। भोगोंकी

तृष्णामें इसकी तृषा बढ़ती गई । और परिणाम बड़ा ही भयंकर रहा । यह तो सद्गुरुको भी न पहचान सका । भोगोंमें फँसकर इसने न तो कुएँके अजगर देखे और न मदमत्त हाथीके वारों की चिन्ता की । कब रहा इसे ध्यान कि जिस डालको यह पकड़े है उसे जंगली चूहे कुतर रहे हैं । यहाँ तो मोहनींदके जोर रहा । इसका सर्वस्व लुटता रहा और इसे कोई शुद्धि न रही । कषायोंके कारागृहमें यह निरंतर अंधकारमें खोया रहा । पर एक दिन गजब हो गया । अंधकारका वह पटल चिर गया । एक प्रकाशकी किरण इसके अंधेरेको पी गई । इसके मोहकी नींद एकदम उड़ गई और वह प्रवृत्त हो गया—जो बचा था उसे बचानेके लिए । वह गजब क्या था ? यह प्रकाशकी किरण क्या थी ? यह करिश्मा था सच्चे गुरुका उपदेश । समताभावोंके धारक, शांतिको जन्मदेनेवाले, गुणोंमें साधनापथमें प्रवृत्त पथिकके सच्चे पथदर्शक गुरुके वे उपदेश जिन्हें श्रवण, मनन, चिंतन, स्मरणसे आत्मा सन्मार्गको ग्रहण करे वही उपदेश सच्चा स्वाध्याय है ।

स्वाध्याय जब उस प्रकारके चिन्तन-प्रकाश से अपनेको संवारने लगता है तभी [illegible] आत्माके सच्चे स्वरूपको जान लेता है । और जिसने उस [illegible] को जान लिया, वही उसकी उन्नतिके लिए निरंतर [illegible] भी करने लगता है । यही वह क्षण होता है जब आत्म [illegible] हो जाता है । इस स्वाध्यायकी प्रथम परिणति होती है [illegible] स्वाध्याय द्वारा वह संयत होकर [illegible] है । आशाओंका क्षय हो जाता है, तृष्णा [illegible] कोई आशांका नहीं रहता [illegible] है । [illegible] और [illegible] और [illegible] आवश्यक [illegible]

एवं आत्मज्ञान एवं विवेकसे होती है। यहाँ शब्द हैं आत्मसमाधि, एकाग्रचित्त, आत्मज्ञान एवं विवेक।

आत्मसमाधि या 'एकाग्रचित्त' उस भावकी ओर इंगित करते हैं जहाँ साधक बाह्य जगत से अन्तरजगतकी ओर मुडे। दूसरे शब्दों में कहूँ तो जहाँ बाह्य भौतिक जगत के विविध फैलावकी ओर से यह मन चित्त की एकाग्रता प्राप्त करे। बाह्य पदार्थ राग-द्वेष, आदि कषायों से मुक्त होकर निर्मलतामें प्रतिष्ठित हो। संसारके चक्र से निकल कर मोक्षकी यात्राका ध्यान-धारण करे। यहाँ तक कि इस बाह्य शरीरका जो पुद्गलका पिंड है उसका भी मोह छोड़कर एक मात्र अजर-अमर आत्मा में लीन हो जाये। उस लोक में प्रस्थापित हो जहाँ कोई कालिमा न हो। जहाँ से कोई प्रलोभन डिगा न सकें। इसी के साथ शब्द है 'आत्मज्ञान' अर्थात् आत्माके निराकारी, निरंजन, सच्चिदानंद स्वरूपको समझने की क्षमता जिससे प्राप्त हो। मैं तो स्वतंत्र, निश्चल, निष्काम, आत्मस्वरूपी हूँ। मेरा वध-बन्ध, छेदन, मारण नहीं होगा। मैं मुक्ति पंथका पंथी हूँ यही ज्ञान होना आत्मज्ञान है। फिर शब्द है विवेक अर्थात् मुझमें भेद-विज्ञानकी क्षमता पनपे। मैं सद् और असद् के भेद को समझने लगूँ। निज-पर के भेदको जानने लगूँ और आत्मकल्याण ही मेरा चरम लक्ष्य है-मोक्ष ही मेरी अंतिम मंजिल है—इसे समझू तभी मेरा विवेक जागृत है ऐसा मैं कह सकूँगा। इस प्रकार स्वाध्यायके द्वारा मैं इन अनंत गुणोंको प्राप्त कर सकता हूँ।

एक प्रश्न उठता है कि यह स्वाध्याय कैसे करें? तो भाई! यह तो तपस्या है। साधना है। इसका प्रथम उपाय है ऐसे गुरुओंके वचन सुनना जो अज्ञानसे बंद आंखोंको ज्ञानांजन से खोल दें। इस स्वाध्याय से हम आत्मा में उत्पन्न विकारी भावोंको जानते हैं। और ये ही भाव क्लेषके कारण हैं इस सत्य से अवगत होते हैं। ये क्लेष मूलतः उन प्रवृत्तियों से उत्पन्न होते हैं जो बाह्य भोगोंके निमित्त जन्मते हैं।

उदाहरणार्थ भोग-विलास, परस्त्रीसेवन, शराब, जुआ आदि व्यसन इनके मूल कारण हैं। इन्हींके कारण इस आत्माके साथ नित्य नवीन कर्म जमा होते रहते हैं। इन कर्मोंका बंध न हो अतः स्वाध्यायके द्वारा साधक इन क्लेप युक्त पदार्थों से तो छुटकारा पाता ही है–वह उपादेय तत्त्व ज्ञान-आनंदको प्राप्त होता है। आत्माके साथ संलग्न कर्मोंकी गंदकी या निर्जरा इसी सच्चे ज्ञान–संयमसे होती है जिसकी प्रेरणा स्वाध्यायसे होती है। इस प्रकार गुरुके वचन, उत्तम धार्मिक ग्रंथोंके पठनसे वह इस प्रकार का ज्ञानानन्द प्राप्त कर सकता है।

किसी कविने कहा है कि--

"करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रस्सी आवत जात के सिल पर परत निशान॥"

अर्थात निरंतर अभ्यास से जड़मति भी बुद्धिमान बन जाता है। इसीके अनुसार यह कहना समीचीन होगा कि आत्मस्वरूपको निरखते और निखारनेके लिए सद्गुरुओंके वचनोंका श्रवण, ग्रंथोंका पठन निरंतर करते रहना चाहिए। जैसे रोज भोजन, शयन आदि आवश्यक हैं वैसे ही साधकको निरंतर आत्मज्ञान संबंधी शास्त्रोंका पठन, मनन आवश्यक है। इस निरंतर प्रक्रियासे ही दो कार्य होते हैं एक तो नए कर्म नहीं [illegible] और दूसरे पुराने कर्मोंका क्षय होता रहता है। आत्मा निरंतर [illegible] करता है।

'स्वाध्याय' चूँकि स्वयंकी साधना है अतः यह अपेक्षित है कि [illegible] एकांत स्थान पर बैठकर आत्मलीन बने। उसके स्वाध्यायमें कोई [illegible] न हो। स्वाध्याय प्रेमीको ग्रंथ चुनने में भी ध्यान रखना [illegible] कि वह [illegible] ग्रंथोंका अध्ययन करे जिनसे वैराग्यकी वृद्धि हो। [illegible] साहित्यका चित्रण हो। स्याद्वादसे युक्त ग्रंथ जो [illegible] ज्ञानका [illegible] हो। जिससे [illegible] और अधिक लीन होते रहें। प्रमाद और अन्य

स्वच्छंद वृत्तियोंसे मुक्ति और वैराग्यभाव जागे। हमारे चित्तमें स्थिरता, निर्मलता व्याप्त हो। जिन ग्रंथोंके अध्ययनसे साधक अपने दोषोंका दर्शन कर सके। उन्हें दूर करनेका निरंतर प्रयास करे। जिन ग्रंथोंके अध्ययनसे जिनेन्द्र मार्गमें उसकी श्रद्धा बढ़े शंकाएँ स्वयं दूर हों।

साधक पठित ग्रंथोंका एकांतमें एकाग्र, चित्त होकर मनन करे यह भी स्वाध्याय का ही एक प्रकार है। आप चाहें तो इसे ध्यान या योग भी कह सकते हैं।

बंधुओ! हम देवदर्शन करते हैं, साधु वंदना करते हैं या तीर्थ वंदना करते हैं उस समय जो प्रार्थना या भजन गाते हैं वह क्या है? विचार कीजिए वह स्वाध्याय ही है। उस समय साधक सब कुछ भूलकर एक मात्र उस भगवानकी भक्तिमें तैरने लगता है जहाँ आनंद ही आनंद है। वह चैतन्य महाप्रभुकी तरह उस भावभूमिमें प्रतिष्ठित हो जाता है जहाँ शरीरका ध्यान ही कब रहता है। जहाँ आत्मा-परमात्माका द्वैत भाव ही कहां रह पाता है? साधककी यह तूर्यावस्था भी तो स्वाध्याय है। यह भजन कीर्तन, गुणकथन किसके लिए? किसके पोषणके लिए। भाई! यह सब है अपने ही ज्ञानके लिए, आत्माके चिंतनके लिए। यह आनंद अनुभवकी चीज है वर्णनकी नहीं। जिस ग्रंथके अध्ययन या जिसके नामस्मरणसे स्वयं आनंदकी अनुभूति होने लगे...मन ब्रह्मोन्मुख होने लगे तभी समझें कि स्वाध्यायका आनंद आने लगा है।

कभी-कभी लोग प्रश्न करते हैं कि स्वाध्यायका फल या लाभ क्या? ऐसे लोगों पर कभी-कभी दया आती है। अरे! भगवत भक्ति या स्वाध्याय क्या लौकिक उपलब्धियों या स्वार्थोंके लिए की जाती है? यदि लौकिक सुख या स्वार्थकी उपलब्धिके लिए स्वाध्याय किया जायेगा तो आत्म-कल्याण कैसे होगा? हां, एक लौकिक उपलब्धि होती है—स्वाध्यायके माध्यमसे व्यक्तिका ज्ञान भंडार बढ़ता है। वह विद्वान बन सकता है। पर यदि इस ज्ञानके बड़े भंडारका एवं विद्वत्ताका उपयोग आत्मकल्याणके